यशसा ३ स्या. ससदोऽहं प्रवदिता स्याम् ।

सामवेद । पू. ६. ३. १० ।

मैं इस संसद् का यशस्वी वक्ता बनूं ।

आधुनिक भारत में

वक्तृत्व-कला की प्रगति

लेखक

इन्द्र विद्यावाचस्पति

प्रकाशक

वाचस्पति पुस्तक-भण्डार

जवाहर नगर, दिल्ली

प्रकाशक—
वाचस्पति पुस्तक-भण्डार
जवाहर नगर, दिल्ली

सवा रुपया
सन् १९५६
प्रथम वार १०००

मुद्रक—
रामेश बेदी
गुरुकुल मुद्रणालय,
गुरुकुल काँगड़ी ।

अनुक्रम

प्रस्तावना

१

मनुष्य दूसरों तक अपने विचारों को वाणी द्वारा पहुँचाने के लिए भाषा का जो प्रयोग करता है उसे हम शास्त्रीय दृष्टि से दो हिस्सों में बाँट सकते हैं। एक आलाप या बातचीत और दूसरा भाषण या वक्तृता। जब हम अपने भाव एक या दो व्यक्तियों तक पहुँचाना चाहते हैं तब 'वार्तालाप' की विधि से काम लेते हैं। और जब बड़े समुदाय तक अपने विचार पहुँचा कर उन्हें प्रभावित करना चाहते हैं तब 'वक्तृता' के साधन का प्रयोग करते हैं। यों तो प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में दोनों प्रकार के अवसर आते हैं। बातचीत तो वह प्रतिदिन करता ही है। कभी न कभी उसे बड़े समुदाय के सामने भी अपने विचार प्रगट करने पड़ते हैं। एक दवाफरोश दवा बेचने के लिए घंटे-घंटे तक के भाषण करते देखे गये हैं। देहात के पंचों को पंचायतों में प्राय: वक्तृता देने की आवश्यकता पड़ती है। उप-देशक लोगों का तो काम ही व्याख्यान देने का है। राजनीति के क्षेत्र में काम करने वालों के तो तीर और तलवार जो कुछ हैं वे प्रायः व्याख्यान ही हैं।

जैसे अन्य सब कार्यक्षेत्रों में मनुष्य की पटुता उस की स्वाभाविक प्रवृत्ति और शिक्षा परिपोषित अभ्यास पर अव-लम्बित है वैसे ही वार्तालाप तथा वक्तृता के क्षेत्र में भी दोनों

साधन अपना-अपना स्थान रखते हैं। कुछ लोगों में बातचीत करने की स्वाभाविक प्रतिभा जन्म से ही विद्यमान रहती है। कई बच्चे बातचीत में बूढ़ों के कान काटते देखे गये हैं। आयु के साथ उन की प्रतिभा विकसित होती जाती है और प्रौढ़ हो कर वे अद्‌भुत रूप से वार्ताकुशल बन जाते हैं। व्यापार में उन्हें कुशल कन्वेसर कहा जाता है। उन का हाव-भाव, शब्द-विन्यास और सिर हाथ का परिचालन ऐसा सामयिक होता है कि श्रोता बहुत शीघ्र प्रभावित हो जाते हैं। यदि ऐसे स्वभाव-सिद्ध वार्ता-पटु व्यक्ति ने किसी चतुर गुरु से अथवा कारनेगी जैसे किसी कुशल लेखक के ग्रन्थों की सहायता से 'वार्तालाप' कला का अभ्यास भी कर लिया, तब तो सोने में सुगन्ध हो जाती है। ऐसे कन्वेसर कभी-कभी कुछ देर के लिए रेत में से भी तेल निकाल लेते है। गत १०० वर्षों में वार्तालाप की कला का वहुत विकास हुआ है, क्योंकि उसे व्यापार और कूट राजनीति में बहुत उपयोगी पाया गया है।

२

वार्तालाप-कला और वक्तृत्व-कला में बहुत बड़ा भेद है। प्रायः देखा गया है कि जो लोग आपसी बातचीत में बहुत चतुर और प्रभावशाली माने जाते हैं उन्हें यदि हज़ार दो हज़ार आदमियों के सामने खड़ा कर दिया जाय तो वे अप्रतिभ से हो कर लड़खड़ा जाते हैं। उन के शब्दों में एक दो व्यक्तियों को प्रभावित करने की शक्ति तो रहती है परन्तु बहुत से लोगों को देख कर घबराहट पैदा हो जाती है। इस भेद का मूलकारण

मनोवैज्ञानिक है। वे जब एक व्यक्ति से बातचीत करने लगते हैं तो उस की मानसिक दशा को समझ कर अपने को उस के अनुकूल ढाल लेते हैं। परन्तु बहुत बड़े समुदाय को सामने देख कर उन की समझ में नहीं आता कि श्रोताओं पर शब्दों की प्रतिक्रिया क्या होगी? यही बात उन्हें घबराहट में डाल देती है।

इसी प्रकार यह भी आवश्यक नहीं कि जो व्यक्ति व्याख्यान देने में कुशल हो वह बातचीत में भी चतुर सिद्ध हो। कई अच्छे-अच्छे वक्ता, जो हजारों की भीड़ को अपने शब्दों पर नचा देने की शक्ति रखते हैं, परस्पर बातचीत में अथवा छोटी समितियों में सर्वथा असफल होते देखे गये हैं। वे जनता को प्रभावित करने की कला को तो जानते हैं परन्तु व्यक्तियों की मनोवृत्ति को भली प्रकार समझने तथा उसे प्रभावित करने की शक्ति नहीं रखते।

३

प्राचीन काल से प्रायः सभी उन्नत देशों में प्रभावशाली वक्ता होते आये हैं। हमारे इतिहास में उत्कृष्ट वक्तृत्व-कला का दृष्टान्त तलाश करना हो तो महाभारत के उद्योग-पर्व में कौरवों की सभा में पाण्डवों के दूत की हैसियत से दिये हुए भगवान् कृष्ण के भाषणों को पढ़िये। कृष्ण ने उस सभा में तीन बार काफी लम्बे-लम्बे भाषण दिये। वे इतने प्रभावशाली थे कि दुर्योधन को छोड़ कर सभा के सभी सभारूढ़ वक्ता से सहमत हो गये। यहाँ तक कि पुत्र के मोह में फँसे हुए धृतराष्ट्र, स्नेहमयी

माता गान्धारी और छाया की तरह दुर्योधन के आगे-पीछे रहने वाले भाई दुःशासन के भावों में भी कुछ क्षण के लिए परिवर्तन आ गया, और वे दुर्योधन को केशव का परामर्श मान कर पाण्डवों से सन्धि करने की सम्मति देने लगे। किसी अस्त्र की शक्ति का अनुमान उस के परिणाम से लगाया जा सकता है। कौरवों की सभा में कृष्ण की वक्तृता का जो प्रभाव हुआ उसे दृष्टि में रखते हुए हम कह सकते हैं कि भगवद्गीता का वक्ता केवल वार्तालाप में ही निपुण नहीं था, वक्तृत्व-कला का भी पूर्ण पण्डित था।

विश्व के प्राचीन महान वक्ताओं में डिमास्थनीज का नाम विशेष रूप से स्मरणीय है। डिमास्थनीज़ का जन्म ईसा से ३८४ वर्ष पूर्व यूनान के एथेन्स नगर में हुआ था। उसे बचपन से ही वक्ता बनने की धुन थी। एक सद्गुरु से शिक्षा प्राप्त करने के बाद उस ने वक्तृत्व शक्ति को बढ़ाने और परिमार्जित करने का वर्षों तक प्रयत्न किया। उस की वाणी में कुछ दोष था, उसे दूर करने के लिये वह मुँह में छोटे-छोटे गोल पत्थर भरकर, और शीशे के सामने खड़ा होकर बोलने का अभ्यास किया करता था। यदि फिर भी कुछ कमी देखता तो कई दिनों तक और कभी-कभी तो सप्ताहों तक घर में बन्द रह कर उसे पूरा करने की चेष्टा करता था। अपनी गति-विधि पर रोक डालने के लिये आधा सिर मुँडा लेता था, ताकि बाहिर जाने का साहस ही न हो। वह आवाज बढ़ाने के लिये समुद्र के किनारे पर जाकर जोर-जोर से बोलता था, जिस में उस का फल यह होता था कि उस की ध्वनि समुद्र के गर्जन से ऊँची

सुनाई दे। उस का प्रयत्न सफल हुआ और वह अपने समय का सब से बड़ा ऑरेटर बन गया। उस की प्रसिद्धि न केवल यूनान में, अपितु अन्य शिक्षा-सम्पन्न देशों में भी फैल गई, जब उस ने मैसीडोनिया के बादशाह फिलिप की बढ़ती हुई महत्वाकांक्षा के विरुद्ध यूनान के अन्य प्रदेशों को खड़ा करने के निमित्त से वह व्याख्यान-माला आरम्भ की, जो 'फिलिपिक' के नाम से प्रसिद्ध है। उस ने यूनान के अन्य सब प्रमुख प्रदेशों को फिलिप के विरुद्ध खड़ा कर दिया। युद्ध हुआ, जिस में फिलिप की जीत हुई। हारी हुई सेना में डिमास्थनीज़ भी लड़ रहा था। वह विदेश में भाग गया, परन्तु गुणग्राही देशवासियों ने उसे वापिस बुला लिया।

डिमास्थनीज़ की भाषण-शैली का सब से बड़ा गुण यह था कि वह न सर्वथा अलंकार-शून्य और सादी थी, और न बहुत अलकार पूर्ण और पेचीदा। जैसा विषय होता डिमास्थनीज़ की भाषा उसी के अनुकूल होती थी। उस की सब से बड़ी विशेषता यह थी कि उस का प्रत्येक भाषण गहरे अध्ययन और परिश्रम का परिणाम होता था। भाषण देने से पहले वह उसे कई बार बोल कर देख लेता था कि उस में भाव, शब्द, भावना और रीति की कोई भूल तो नहीं रह गई है। उस के लिये वक्तृता एक कला थी, केवल उपयोगिता या शौक की चीज नहीं थी।

प्राचीन काल का तीसरा प्रसिद्ध वक्ता मार्कस टूलियस सिसरो था। उसे लेखकों ने 'रोम का सब से बड़ा ऑरेटर और लेखक' माना है। उस का जन्म ईसा से १०६ वर्ष पूर्व हुआ

था। बचपन से ही वह बहुत प्रतिभासम्पन्न और होनहार छात्र समझा जाता था। ३० वर्ष की आयु में उस की वक्तृत्व-शक्ति की धाक रोम पर बैठने लगी थी। धीरे-धीरे वह राजनीति में ऊँचा उठता गया। वैरस नाम के एक प्रभाव-सम्पन्न रोमन के विरोध में किये गये भाषणों ने उस की ख्याति को चार चाँद लगा दिये। वह रोम का कौंसिल (मुख्य शासक) चुना गया। जूलियस सीजर के अभ्युदय ने सिसरो को कुछ पीछे डाल दिया। परन्तु जब सीजर की हत्या के पश्चात् एन्टोनी ने सीजर का स्थान लेने का यत्न किया तब उस ने बहुत जोशीले और योग्यता-पूर्ण भाषणों द्वारा उसका विरोध किया। अन्त में एन्टोनी जीत गया। सिसरो द्रोह के अपराध में पकड़ा गया और मृत्यु-दण्ड का शिकार बन गया।

सिसरो के आलोचकों का कहना है कि वह उत्कृष्टतम वक्ता तो था परन्तु निर्भय वीर नहीं था। उन्हें भी मानना पड़ता है कि उस की वाणी में अद्भुत ओज था, बुद्धि पैनी और विवेचनापूर्ण थी और हृदय में मानवता और सहानुभूति का निवास था। इन सब गुणों ने उसे संसार के लगभग आधा दर्जन सर्वश्रेष्ठ वक्ताओं की श्रेणी में ला कर खड़ा कर दिया है। उस के प्रसिद्ध भाषणों की मात्रा इतनी अधिक है कि वे ५६ भागों में प्रकाशित हुए हैं और फिर भी समझा जाता है कि बहुत से प्रसिद्ध भाषण अनुपलभ्य हैं।

४

वक्तृत्व-कला के तीन अङ्ग हैं—(१) भाषा और उस का

ठीक उच्चारण, (२) स्वर के उतार-चढ़ाव (३) तथा सिर हाथ आदि अंगों की चेष्टाएँ।

यों इन तीनों से अधिक महत्वपूर्ण चीज एक और है जिस का सामान्य रूप से पहला स्थान होना चाहिए। परन्तु उस का वक्तृत्व-कला से कोई सीधा सम्बन्ध न होने से उस की हम ने विशेष चर्चा नहीं की। वह चीज है वक्ता का भाव। वक्ता का भाव तो अच्छा होना ही चाहिए परन्तु वक्तृत्व-कला का उस से कोई सम्बन्ध नहीं है। अमेरिका के प्रसिद्ध लेखक एमर्सन के बारे मशहूर है कि वह प्रारम्भ में श्रोताओं के सामने खड़े होकर बोलने के समय इतना घबड़ा जाता था कि वाक्य बीच में ही कट जाते थे। एक ही विषय के दो पक्षों पर बोलने वाले दो वक्ता यदि समान रूप से कुशल हों तो वे श्रोताओं को समान रूप से विचलित कर सकते हैं। कुशल कलापूर्ण वक्ता अपने शब्दों के जादू से कुछ समय के लिए सच को झूठ और झूठ को सच बना देता है। वह सभा में वकील बन कर खड़ा होता है। वह जिस पक्ष के समर्थन में वक्तृता देता है उस समय उसी को सत्य मान लेता है। उस का यत्न यह होता है कि श्रोता भी उस के साथ सहमत हो जायें।

वक्तृत्व-कला के जो तीन अङ्ग मैंने बतलाये हैं उन की विस्तृत व्याख्या यहाँ संभव नहीं। वह स्वयं एक शास्त्र है। यहाँ तो केवल इतना दिखाना अभीष्ट है कि व्याख्यान देने और कलापूर्ण व्याख्यान देने में बहुत भेद है। इस छोटी सी पुस्तक में मैंने यह दिखाया है कि गत पचास वर्षों में हमारे देश में वक्तृत्व-कला का ह्रास हुआ है। इसे पढ़ते हुए पाठक यह स्मरण

रखें कि वक्तृत्व-कला के ह्रास से मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि हमारे नेताओं या वक्ताओं में योग्यता, त्याग या जनता को प्रभावित करने की शक्ति कम हो गई। इस संदर्भ का उद्देश्य बहुत परिमित है। इस का विषय केवल वक्तृत्व-कला है। प्रत्येक कला यत्न-साध्य है। परिस्थितियों ने कुछ ऐसा पलटा खाया है कि वक्ताओं ने वक्तृत्व को कला समझना छोड़ दिया है, वे उस के शास्त्रीय पहलू पर अधिक ध्यान नहीं देते।

मैंने वक्तृत्व-कला के तीन अङ्ग बतलाये हैं। मनुष्यों में यह स्वभाव-सिद्ध भी होते हैं और प्रयत्न-साध्य भी। जिस व्यक्ति को यह सब या इन मे से कोई गुण स्वभाव से प्राप्त हो वह अभ्यास और शिक्षा से उसे परिष्कृत कर सकता है और जो गुण प्राप्त न हों उन्हें उपलब्ध कर सकता है। इतिहास में प्रयत्न पूर्वक प्राप्त की हुई भाषण-कला के अनेक दृष्टान्त मिलते हैं। डिमास्थनीज का दृष्टान्त मै लिख ही चुका हूँ। अमेरिका के यशस्वी राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन का दृष्टान्त विश्वविख्यात है। उस ने एक अत्यन्त निर्धन घर मे जन्म लिया था। परमात्मा ने उसे न शकल दी थी न सूरत। अत्यन्त लम्बा कद था और उस में भी अपेक्षया लम्बी गर्दन पर बेढंगा चेहरा था। परन्तु उस महा-पुरुष के हृदय में अपनी मातृभूमि के लिए कोई बड़ा काम करने की लगन थी। उस से प्रेरित हो कर उस ने अपनी सब शक्तियों को असाधारण रूप से विकसित किया। अपने भाषण को कई-कई बार लिख कर सर्वाङ्ग सुन्दर बनाना और फिर उसे जंगल में जाकर अनेक बार बोल कर जनता के सामने बोलने के लिए तैयार कर लेना, अब्राहम लिंकन का नित्य नियम था।

परिणाम यह हुआ कि वह न केवल अमेरिका का राष्ट्रपति चुना गया, संसार के सर्वश्रेष्ठ वक्ताओं में से अन्यतम गिना गया। उस के कुछ भाषणों को अमेरिका की राजनीति और साहित्य में अमरपद प्राप्त हो गया है। इङ्गलैण्ड का प्रसिद्ध उदार नेता ग्लैडस्टन भी इसी कोटि का वक्ता था। उस ने सतत अभ्यास और अन्तः परिश्रम से अपने आप को उस काल का सर्वश्रेष्ठ वक्ता बनाया था।

५

वक्ताओं को दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। एक सुवक्ता, दूसरे ऑरेटर (भावुकता प्रधान वक्ता)। सुवक्ता और ऑरेटर में यह भेद है कि जहाँ सुवक्ता भाषा की प्रौढ़ता और युक्तियों के बल से अपने अभिप्राय को श्रोताओं के मस्तिष्क तक पहुँचाना चाहता है वहाँ ऑरेटर अपने शब्दों के उतार-चढ़ाव, शरीर के अनुभाव विभाव तथा भावनाओं के प्रवाह में श्रोताओं को बहा ले जाने का प्रयत्न करता है। सुवक्ताओं की क्रीड़ास्थली संसद्, पार्लियामैंट, परिषदादि परिमित सभाएँ हैं तो ऑरेटरों को सफलता के लिए ऐसा जन-समूह चाहिए जिस में अज्ञ, अल्पज्ञ, और बहुज्ञ सब प्रकार के श्रोता हों। उन में से भी यदि पहली दो श्रेणियों के श्रोताओं की अधिकता हो तो प्रभाव अधिक होता है। हमारे देश के वक्ताओं में श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और लाला लाजपतराय ऑरेटर श्रेणी के उत्कृष्ट प्रतिनिधि थे तो श्री गोपालकृष्ण गोखले तथा पं० मोतीलाल नेहरू सुवक्ताओं के अग्रणी थे। पहले दोनों वक्ताओं का पूरा विकास विराट् सभाओं

में होता था तो दूसरे दोनों वक्ताओं के गुण धारा-सभाओं में या परिमित परिषदों में पूर्ण रूप से प्रकाशित होते थे।

मैंने इस सन्दर्भ में अपने देश के उन्हीं वक्ताओं की चर्चा की है जिन के भाषण मैंने स्वयं सुने हैं। यहाँ दो बातें स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिएँ। जिन महानुभावों के भाषण मैंने नहीं सुने उन की चर्चा न करने का यह अभिप्राय नहीं है कि मैं उन्हें प्रभावशाली वक्ताओं में नहीं गिनता। स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द, बाबू केशवचन्द्र सेन आदि महा-पुरुषों की वक्तृत्व शक्ति बहुत ऊँचे दर्जे की थी। वे अपने-अपने क्षेत्र में भाषा के जादूगर समझे जा सकते हैं। इस पुस्तिका में मैं मुख्य रूप से वक्ताओं के सम्बन्ध में अपने अनुभवों का उल्लेख करना चाहता था। इस कारण उपर्युक्त महापुरुषों की चर्चा नहीं की। दूसरी बात जिस की ओर मैं पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ यह है कि मैंने अपने समय के भी सब वक्ताओं के बारे में विवेचन नहीं किया। इस का एक तो यह कारण है कि इस छोटी सी वर्णनात्मक पुस्तिका में वैसा करना सम्भव नहीं था और दूसरा कारण यह है कि किसी प्रतिपाद्य मन्तव्य को सिद्ध करने के लिए कुछ दृष्टान्तों का देना ही पर्याप्त समझा जाता है। मुझे जिन भारतीय सुवक्ताओं के भाषण सुनने का अवसर मिला है उन में से कइयों का मुझ पर बहुत प्रभाव पड़ा है। धार्मिक क्षेत्र में स्वामी श्रद्धानन्द जी, व्याख्यान-वाचस्पति पं० दीनदयालु शर्मा आदि नेताओं के भाषण श्रोताओं को मन्त्रमुग्ध से कर देते थे। राजनीतिक वक्ताओं में पं० नेकी-राम शर्मा, श्रीयुत आसफअली, श्री अरविन्द घोष, मौलाना

अताउल्लाशाह् बुखारी अत्यन्त लोकप्रिय और प्रभावशाली वक्ता थे। उन में से पं० नेकीराम शर्मा अब भी जीवित हैं। लम्बी बीमारी ने कई वर्षों से उन्हें मौन कर रखा है। दक्षिण, पूर्व और पश्चिम के प्रांतों में भी इस कोटि के अनेक सुवक्ता हुए हैं और अब भी हैं। यद्यपि उन के नाम इस सन्दर्भ में नहीं आये तो भी मेरी विनीत सम्मति है कि भारत में वक्तृत्व-कला के क्रमिक ह्रास के सम्बन्ध में मैंने जो सम्मति दी है, इन महानुभावों के भाषणों के विवेचन से भी उसी को पुष्टि मिलेगी।

६

प्रस्तावना के अन्त में उन सब दिवंगत तथा जीवित महानुभावों से क्षमा माँगना चाहता हूँ जिन की वक्तृताओं पर टिप्पणि करने का मैंने दुःसाहस किया है। जो मनुष्य बहुत दिनों तक पत्रकार रह चुका हो उसे साहस करने की आदत पड़ ही जाती है।

इन्द्र

—०—

आधुनिक भारत में

वक्तृत्व-कला की प्रगति

१

सुरेन्द्रनाथ बनर्जी

मैंने कांग्रेस का पहला अधिवेशन कलकत्ते में देखा था। मैं उसी वर्ष गुरुकुल विश्वविद्यालय का स्नातक बना था। मन में कांग्रेस का अधिवेशन देखने का उत्सुकतापूर्ण उत्साह वर्षों से इकट्ठा हो रहा था। विद्यार्थी रहते हुए जिन महापुरुषों के नाम और काम सुने और पढ़े थे, उन को देखने के लिए मन में अपूर्व उत्साह था और जिज्ञासा भी थी कि जिन के विषय में इतना कुछ सुना है, वे कैसे हैं? उन के बोलने की शैली कैसी है? और क्या उन के भाषणों को पढ़ने से हृदय में जैसी उत्तेजना उत्पन्न होती है, वैसी सुनने से भी उत्पन्न होगी?

कलकत्ते में कांग्रेस के उस अधिवेशन के सभापति पंडित बिशन नारायण दर थे। दर महोदय कानून के बहुत उद्भट विद्वान् और अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध लेखक थे, परन्तु उनका डील-डौल बाबुआना था और आवाज अदालत के योग्य थी। साथ

ही उन्हें उस मुसीबत का भी सामना करना पड़ा, जिस से कई युग-परिवर्तन हो जाने पर भी कांग्रेस के अध्यक्षों को अब तक छुटकारा नहीं मिला। वह मुसीबत है, शैतान की आंत की तरह या कुम्भकर्ण के नाक की तरह लम्बा भाषण। जिस बोझ ने पट्टाभि जैसे विनोदपूर्ण वक्ता को १६४८ में दबा दिया, यदि १६११ में पंडित बिशन नारायण दर दब गए थे, तो आश्चर्य ही क्या था? कि बहुना, अपने जीवन में देखी हुई कांग्रेस के पहले अध्यक्ष-भाषण से मुझे बहुत निराशा हुई।

उस घटना को ४२ वर्ष व्यतीत हो गये हैं। उस अधिवेशन के विस्तृत नोट भी मेरे पास नहीं हैं, इस कारण अन्य वक्ताओं ने मुझ पर कैसा प्रभाव डाला, यह विस्तार से स्मरण नहीं। परन्तु एक वक्ता के भाषण का जादू का-सा असर अब तक स्मृति पट पर अंकित है। वे थे बंगाल के केसरी सुरेन्द्रनाथ बनर्जी। वे अपने समय के और अपनी शैली के सर्वोत्कृष्ट वक्ता माने जाते थे। उस समय की भारत की राजनीति इङ्गलैंड के लिबरल दल का रूपान्तर सी थी। कांग्रेस में जो भाषा प्रयुक्त होती थी, वह ग्लैडस्टन और जान ब्राईट की प्रतिच्छवि होती थी। सुरेन्द्र बाबू को अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों में 'भारतीय ग्लैडस्टन' का नाम दिया जाता था। वस्तुतः उन का अंग्रेजी भाषा पर अद्भुत प्रभुत्व था, और भाषण की कला के तो वे आचार्य थे। जिस समय वे कांग्रेस के मंच पर बोलने के लिए खड़े होते और सिंह की तरह गर्जते हुए स्वर से 'Mr. President, ladies and gentlemen' का सम्बोधन करते थे,

उस समय कांग्रेस के घेरे की बात ही क्या, आसपास के बाजारों में गये हुए प्रतिनिधि भी खिंच कर पण्डाल में चले आते थे। यह ध्यान में रहे कि उस समय माइक्रोफोन का आविष्कार नहीं हुआ था। वक्ता का सम्पूर्ण धन उस का कण्ठ-स्वर था। सुरेन्द्र बाबू को भगवान ने अद्भुत कण्ठ-स्वर दिया था, जिसे उन्होंने अभ्यास द्वारा खूब परिष्कृत किया था। उन का सिंह-गर्जन तूफानी समुद्र की लहरों की तरह उठता और गिरता था। परिष्कृत और जोरदार शब्दों का अनवरत प्रवाह विच्छिन्न ही नहीं होता था, श्रोता का हृदय भी उन के शब्दों के उत्थान और पतन का साथ देता था, जिस से एक ऐसा नशा सा उत्पन्न होता था, जो तब उतरता था, जब वक्ता अपने स्वर को ऊंचे से ऊंचे लय पर ले जाकर अंग्रेजी की निम्नलिखित पंक्ति देशवासियों को सुनाता था—

'Nations by themselves are made!'

कलकत्ते की वह कांग्रेस मेरे लिये सुरेन्द्र बाबू की कांग्रेस थी। मैं और सब कुछ भूल गया, केवल बंगाल के उस सिंह की गर्ज कानों में गूंजती रही। वह मेरा कांग्रेस की व्यावहारिक राजनीति में पहला पाठ था।

गोपालकृष्ण गोखले

१६११ के बाद मेरी स्मृति में कांग्रेस की वक्तृत्व-कला के इतिहास का दूसरा परिच्छेद बांकीपुर की कांग्रेस में लिखा गया, जहां मुझे श्री गोपालकृष्ण गोखले के दक्षिण अफ्रीका सम्बन्धी भाषण ने असाधारण रूप से प्रभावित किया। उस समय के

अन्य नौजवान भारतवासियों की तरह मेरे विचार भी गर्म थे। मॉडरेट पार्टी ने सूरत में लोकमान्य तिलक के साथ जो व्यवहार किया था, उसे मैं भी बहुत घृणा के योग्य समझता था। और इस के साथ ही यह भी ठीक था कि लोकमान्य का मुख्य प्रतिद्वन्द्वी गोखले जी को ही माना जाता था। फिर भी न जाने क्यों, गोखले जी के व्यक्तित्व के प्रति मेरे मन में एक गुप्त श्रद्धा की भावना थी। इस कारण जब कांग्रेस के उस अधिवेशन में, अधिवेशन के वयोवृद्ध सभापति श्री मधोलकर जी ने यह घोषणा की कि अब मि० गोपालकृष्ण गोखले दक्षिण अफ्रीका सम्बन्धी प्रस्ताव को उपस्थित करेंगे, तब मैं बड़ी सावधानता से सुनने के लिए तन कर बैठ गया, और देखने तथा सुनने लगा।

मैंने देखा कि एक भव्य मूर्ति मंच की ओर बढ़ी। मध्यम दर्जे का कद, गोरा भरा हुआ रोबीला चेहरा, गम्भीर और प्रतिभापूर्ण सुन्दर आंखें और विशाल माथा उस मूर्ति की भव्यता को बढ़ा रहे थे। सिर पर दक्षिणी ब्राह्मणों जैसी लाल पगड़ी उस चेहरे की शोभा को द्विगुणित कर रही थी। बन्द गले का कोट और गले में किनारीदार दुपट्टा गोखले महोदय का सदा का साथी था। जब इस वेष में वे व्याख्यान-वेदी की ओर बढ़े तो सारा उत्सव-मण्डप तालियों की कर्णभेदी ध्वनि से गूंज उठा! वक्ता के दायें हाथ में कुछ कागज थे, जिन में सम्भवतः व्याख्यान के लिए नोट थे। दूसरा हाथ खाली था! खड़े होते ही आपने सभापति को सम्बोधन कर के शान्त भाव से बोलना

आरम्भ कर दिया। गोखले जी की आवाज मध्यम, मधुर और अत्यन्त परिमार्जित थी। वह दूर तक सुनाई देती थी, परन्तु उस में चिल्लाहट या बहुत अधिक उतार-चढ़ाव का अभाव था। यदि सुरेन्द्र बाबू के सिंहनाद को तूफ़ानी समुद्र की लहरों से उपमा दी जाय, तो गोखले महोदय के कण्ठस्वर को हृषीकेश में बहती हुई गंगा की वसन्तकालीन धारा से उपमा दी जा सकती है। अनादि वैदिक काल से वह धारा उसी तीव्र गति से, परन्तु उसी शान्त भाव से बह रही है। गोखले जी की वक्तृता की धारा भी अविच्छिन्न गति से बहती थी। न वे हाथ-पांव पटकते थे, न गले की नसों पर जोर डालते थे। वे अत्यन्त परिष्कृत और परिमित वाक्यों में अपनी बात कहे जाते थे। उस कांग्रेस में वे लगभग ५० मिनट बोले। उन पचास मिनटों में न तो सारे पण्डाल में कोई शब्द हुआ और न किसी की आंखें कहीं अन्यत्र गईं। कान वक्तृता पर थे और आंखें वक्ता के चेहरे पर। औरों की वे जानें, अपनी बात तो मैं कह सकता हूँ कि वे पचास मिनट मुझे ५० सैकेण्ड से भी कम मालूम हुए। समय कोई वस्तु है, यह मुझे तब याद आया, जब व्याख्यान के अन्त में अपने कण्ठस्वर को थोड़ा सा बढ़ा कर और पचास मिनटों के व्याख्यान में पहली बार दायां हाथ छाती तक उठा कर वक्ता ने कहा—

'Let us knock at the door till it is opened.'

यह वाक्य कह कर जब आप अपनी कुर्सी पर जा बैठे,

तब श्रोताओं को अनुभव हुआ कि मानों वे आकाश से पृथ्वी पर आ पड़े। पचास मिनट से रुका हुआ धुआं एक दम फूट पड़ा। सारा पण्डाल लगभग ५ मिनट तक तालियों की गड़गड़ाहट से गूंजता रहा।

एक बार अत्यन्त दुःखी हो कर गोखले जी ने वायसराय की कौंसिल में कहा था, 'राजनीतिक दासता कितनी बुरी वस्तु है, यह हम तब अनुभव कर सकते हैं, जब हम सोचें कि योग्य से योग्य भारतवासी भी एक परिमित ऊंचाई से ऊपर सिर नहीं उठा सकता।' इस का दृष्टान्त स्वयं गोखले जी थे। भारतमाता का वह सपूत इस योग्य था कि किसी स्वतन्त्र देश का राष्ट्रपति या प्रधान सचिव बनता। उसे देख कर, उस की बात सुन कर श्रद्धा से मस्तक झुक जाता था। तभी तो महात्मा गान्धी उसे अपना गुरु मानते थे। यह दासता का अभिशाप था कि ऐसा योग्य भारतवासी जीवन भर एक आन्दोलनकारी की हैसियत से ऊपर न उठ सका।

मेरी सम्मति में नये युग के सर्वाङ्गीण भारतीय वक्ताओं में श्रीयुत गोपालकृष्ण गोखले का स्थान सर्वोत्कृष्ट था। हाँ, अंग्रेजी में भावुकतापूर्ण जोशीली वक्तृता देने वालों में प्रथम नम्बर पर श्रीयुत सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को ही मानना पड़ेगा।

—

२

श्रीमती ऐनी बेसेण्ट

१६१६ का लखनऊ का अधिवेशन भारत के इतिहास में विशेष महत्व रखता है। उस में गर्म और नर्म—एक्स्ट्रीमिस्ट और मॉडरेट--दोनों एक मंच पर विराजमान थे। सूरत के गृह-युद्ध के पश्चात् यह पहिला अधिवेशन था, जिसे उस समय राष्ट्रिय नाम दिया गया। यह सर्वसम्मत बात मानी जाती थी कि उस मेल का श्रेय श्रीमती ऐनी बेसेण्ट को है। श्रीमती ऐनी बेसेण्ट एक प्रतिभासम्पन्न आयरिश महिला थीं। वह थ्योसा-फिकल सुसाइटी की अध्यक्षा थीं। जिस समय गर्मों और नर्मों की परस्पर फूट के कारण देश का राजनीतिक जीवन छिन्न-भिन्न-सा हो गया था, उस समय श्रीमती ऐनी बेसेण्ट स्वराज्य के रण-क्षेत्र में उतरीं और 'होमरूल लीग' की ओर से राष्ट्रिय आन्दोलन पुनरुज्जीवित कर दिया। साथ ही उन्होंने दोनों दलों को कांग्रेस के मंच पर एकत्र करने का शुभ उद्योग भी प्रारम्भ कर दिया, जिस की सफलता कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन में हुई। उस अधिवेशन की सब से बड़ी महत्ता यही थी कि अनेक वर्षों के पश्चात् लोकमान्य तिलक और माडरेट नेता एक ही व्याख्यान-वेदी पर विराजमान थे।

श्रीमती ऐनी बेसेण्ट उस समय के संसार के सर्वश्रेष्ठ पांच वक्ताओं में से एक मानी जाती थीं। भाषा, भाव और भाषण-शैली में 'बंगाल-केसरी' जैसी शब्दों की मूसलधार वृष्टि तो नहीं

होती थी और न गोखले महोदय के समान घटनाओं और अंकों का अद्‌भुत आयोजन ही होता था, तो भी अंग्रेजी जानने वालों के मन मे उन के व्याख्यान अद्‌भुत प्रभाव उत्पन्न करते थे। भाषा पर उनका प्रभुत्व था ही, भावों और भावनाओं का जितना सुन्दर मिश्रण उन के व्याख्यान मे होता था, उतना बहुत कम उपलब्ध होता है। मैंने उन के भाषणों की प्रशंसा तो बहुत सुनी थी, प्रत्यक्ष सुनने का अवसर पहिली बार लखनऊ में मिला। मैं उस से प्रभावित हुआ, परन्तु इतना नहीं जितना गोखले जी के भाषण से। उस का कारण सम्भवतः यह था कि श्रीमती ऐनी बेसेण्ट की बातें भारत-भक्ति से पूर्ण और ऊंचे दर्जे की होने पर भी एक भारतवासी के हृदय के तार को नहीं हिलाती थीं। यह मेरा अनुभव है, सम्भव है अन्य भारतवासियों का अनुभव इस से कुछ भिन्न हो। इतना भेद होने पर भी यह तो मैं असंदिग्ध रूप से कह सकता हूँ कि श्रीमती ऐनी बेसेण्ट सच्चे हृदय से भारत-भक्त और ऊंचे दर्जे की व्याख्यात्री थीं।

लोकमान्य तिलक

धर्म और राजनीति के क्षेत्र में सभी महापुरुषों के सामने भक्तिभाव से सिर झुका कर यदि मैं इस प्रश्न का उत्तर देना चाहूँ कि 'तुम किस के अनुयायी हो ?' तो मेरा यह उत्तर होगा कि धर्म के क्षेत्र में मैं महर्षि दयानन्द का अनुयायी हूं और राजनीति में लोकमान्य तिलक का। इस से यह तो समझा ही जा सकता है कि जब मैंने अपने जीवन में पहिली बार कांग्रेस की व्याख्यान-वेदी पर जय-जयकारों के मध्य में आते और बैठते

तिलक महाराज को देखा, तब मेरी कैसी भावनायें रही होंगी। मैं अधिक भावुक प्राणी नहीं हूँ, तो भी उस समय मैं भावुकता की पराकाष्ठा तक पहुँच गया था। यदि सभापति का अथवा लोकमत का भय न होता, तो अपने स्थान से उठ कर अवश्य ही तिलक महाराज के चरण पकड़ लेता। जब वे आसन पर आसीन हो गये, तब भी मैं बहुत देर तक उनकी ओर टकटकी लगा कर देखता रहा। उनके मुखमण्डल पर असाधारण बुद्धि, गम्भीरता और तपश्चर्या के चिह्न स्पष्ट रूप से दिखाई दे रहे थे। थोड़ी देर तक उनके शान्त चेहरे को देखने पर यह अनुभव होने लगता था कि हम सचमुच एक क्रान्तिकारी को देख रहे हैं। माथे पर विचार की रेखायें थीं, आँखें चेतन और स्थिर थीं, ओठ दृढ़ता से मिले हुए थे और मुद्रा स्तब्ध थी, मानों क्रान्ति का शरीरधारी पुतला हो। यह मेरी उस समय की भावना थी। उस के पश्चात् तो मैंने लोकमान्य को कई दशाओं में देखा—हँसते हुए देखा, मराठी शैली में व्यंग्यपूर्ण उपहास करते हुए देखा और महाराष्ट्र ब्राह्मणों की तरह केवल धोती पहिन कर भोजन करते भी देखा। वे उन के मानवीय रूप थे। कांग्रेस के उस अधिवेशन में जब तक वे बोलने के लिये नहीं खड़े हुए, तब तक मैं उन्हें केवल क्रान्तिकारी नेता के रूप में देखता रहा।

उत्सव-मण्डप में उपस्थित जनता लोकमान्य का व्याख्यान सुनने के लिये उतावली हो रही थी। सूरत के गृह-युद्ध के पश्चात् नौकरशाही सरकार ने उन्हें जेल में डाल दिया था, उस से वे अभी हाल में छूट कर आये थे। देश भर में उन के प्रति

अद्भुत प्रेम और श्रद्धा का भाव उमड़ रहा था, जिस का प्रभाव कांग्रेस के पण्डाल में भी दिखाई दे रहा था। बहुत प्रतीक्षा के बाद अन्त में जब आप व्याख्यान देने के लिये खड़े हुए, तब लगभग पाँच मिनट तक करतल-ध्वनि होती रही। इन पाँच मिनटों का मूल्य आंकने के लिये यह स्मरण कर लेना आवश्यक है कि उस समय कांग्रेस अंग्रेजी पढ़े-लिखे वकीलों, डाक्टरों और रईसों की सभा थी; अभी उस में जनता-जनार्दन का प्रवेश नहीं हुआ था। उस समय के पांच मिनटों को पचास मिनटों के बराबर समझना चाहिये।

केवल भाषण-कला की दृष्टि से मैं यदि लोकमान्य के व्याख्यान की आलोचना करूं, तो वह शायद न्यायसंगत नहीं होगा। कारण यह है कि व्याख्याता की हैसियत से उन की विशेष ख्याति मराठी भाषा के भाषणों के कारण हुई थी। वे जो कुछ बोलते थे, हृदय से बोलते थे। उन के हृदय में जो तेज और अविचल भाव था, वह उन के शब्दों से प्रकट होता था। इस कारण भाषण का श्रोताओं पर गहरा प्रभाव पड़ता था। परन्तु साथ ही केवल कला की दृष्टि से इतना कहना आवश्यक प्रतीत होता है कि उन के अंग्रेजी भाषण में शब्दों का वह प्रवाह नहीं था, जो सुरेन्द्र बाबू अथवा श्रीमती बेसेण्ट में था और न घटनाओं तथा अङ्कों का वैसा चतुरतापूर्ण आयोजन था, जैसा कि गोखले जी में था। सीधापन ही उन के भाषण का अलंकार था। उनके लखनऊ वाले भाषण की एक बात मुझे भली प्रकार याद है। उन्होंने दोनों दलों के मेल का निर्देश करते हुए कहा था, 'यह सन्तोष की बात है कि यह Luck (सौभाग्य) now

(अब) Lucknow (लखनऊ) को प्राप्त हुआ है कि दोनों दल यहां मिल जांय !' इस शब्द-विश्लेषण पर श्रोताओं ने चिरकाल तक हर्षध्वनि की।

श्रीयुत विपिनचन्द्र पाल

दलबन्दी के उन दिनों में गरम-दल की 'बाल-पाल-लाल' की त्रिमूर्ति मशहूर थी। 'बाल' से बालगंगाधर तिलक, 'पाल' से विपिनचन्द्र पाल और 'लाल' से लाला लाजपतराय का बोध होता था। श्रीयुत विपिनचन्द्र पाल का नाम हम लोगों ने वर्षों तक समाचार-पत्रों में पढ़ा था। वे बंगाल में गरम दल के प्रमुख नेता थे। नेता के रूप में उन की ख्याति का मुख्य आधार उन की भाषण-शक्ति थी। वे अंग्रेजी के जोरदार वक्ता थे। यदि सुरेन्द्र बाबू के स्वर की हम सिंह के गर्जन से उपमा दें, तो पाल महोदय के स्वर की उपमा सितार के अन्तिम सप्तक से दी जा सकती है। उनका तीखा स्वर जब पूरी उंचाई पर पहुँचता था, तब कानों को चीरता हुआ हृदय के अन्तस्तल तक पहुंच जाता था। उन का प्रत्येक वाक्य अलग-अलग काफी जोरदार होता था। कभी-कभी एक वाक्य और दूसरे वाक्य के बीच में ऐसा अनुभव होने लगता था कि वे पीछे कुछ भूल गये हैं. जिसे उठाने के लिये कुछ रुक जाना पड़ा है। कुछ विराम के पश्चात् दूसरा वाक्य शुरू होता था जो धीरे-धीरे उंचाई की चरमसीमा तक पहुँच कर समाप्त हो जाता था और फिर विराम-चिह्न लग जाता था। यह विराम विचार-शक्ति से सम्बन्ध रखता था या भाषा से, इस प्रश्न का उत्तर मैं निश्चित रूप से नहीं दे सकता।

पाल महोदय के भाषण की एक विशेषता यह भी थी कि वे प्रायः खण्डन में ही अधिक चमकते थे। किसी विषय के प्रतिपादन में उन की शब्द-रचना ढीली हो जाती थी। सुरेन्द्र बाबू को कोसने या 'मॉडरेट-पार्टी' का मज़ाक उड़ाने में उन्हें जितनी सफलता मिलती थी, बहिष्कार अथवा राष्ट्रिय शिक्षा की व्याख्या करने में उतनी नहीं मिलती थी। यही कारण है कि जब वे असेम्बली में पहुँच गये, तब उनकी भाषण-शक्ति और लोकप्रियता का निरन्तर ह्रास होता गया। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि राष्ट्रिय जीवन के उस संघर्ष-काल में पाल महोदय क्रान्ति-दल के एक शक्तिशाली वक्ता और योद्धा थे। उन्हें गरम-दल के अन्यतम महारथी कहा जा सकता है।

—

३

पंडित मदनमोहन मालवीय

मैंने श्रद्धेय मालवीय जी के दर्शन तो पहिले भी किये थे, पर व्याख्यान लखनऊ में ही सुने। स्नातक बनने के अगले ही वर्ष मैं और मेरे बड़े भाई हरिश्चन्द्र जी, पिता जी के साथ शिमला गये थे। वहां मालवीय जी भी गये हुए थे। वे सनातन-धर्म सभा के मन्दिर में ठहरे हुए थे। हम लोग प्रातःकाल आठ-नौ बजे उनके स्थान पर मिलने के लिये पहुंचे, तो वे क्षौर बनवा रहे थे। एक नाई आहिस्ता-आहिस्ता उस्तरा चलाता जाता

था और हिन्दू विश्वविद्यालय की विशाल योजना का वह आकर्षक वृत्तान्त भी सुनता जाता था, जो मालवीय जी महाराज उसे सुना रहे थे। वे नाई के सामने अत्यन्त सुबोध ढंग से विश्व-विद्यालय को विशेषतायें ऐसे रख रहे थे, मानों उस नाई की सन्तुष्टता पर ही विश्वविद्यालय का भविष्य अवलम्बित हो। हम लोग भी जाकर उसी कमरे में बैठ गये। पिता जी से मालवीय जी का बहुत प्रेम था। उचित शिष्टाचार की बातचीत के पश्चात् मालवीय जी ने फिर नाई को विश्वविद्यालय की योजना का सुनाना जारी कर दिया। इस में लगभग आध घण्टा व्यतीत हो गया। हम लोग भी उस बातचीत का आनन्द लेते रहे। इतने में मालवीय जी के सेक्रेटरी ने आकर सूचना दी कि महा-राज बीकानेर का आदमी एक पत्र लेकर आया है, जिस में नौ बजे आप को उन से मिलने की याद दिलाई गई है। नौ बजने वाले हैं, आप शीघ्र स्नान कर लीजिये। मालवीय जी ने इस का जो उत्तर दिया वह मुझे भली प्रकार याद है। आपने कहा, 'उस आदमी द्वारा कहला दो कि आज मैं नहीं मिल सकूंगा। किसी दूसरे दिन मिलूंगा।'

सेक्रेटरी ने पूछा, 'महाराज, आज क्या काम है ?'

मालवीय जी ने उत्तर दिया, 'देखते नहीं हो, इस भाई को विश्वविद्यालय की योजना समझा रहा हूँ। क्या यह कम महत्वपूर्ण बात है ?'

इस प्रश्नोत्तर का हम दोनों भाइयों के युवक-हृदयों पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। हम दोनों को उन्होंने एक-एक उपदेश भी दिया। मुझ से कहा, 'पूरा वेश पहिना करो। धोती-कुरते के

साथ गले में दुपट्टा अवश्य डाला करो।' भाई जी से कहा, 'अपने भाषण में हिन्दी के बीच-बीच में अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग न किया करो।'

लखनऊ-कांग्रेस से पूर्व श्रद्धेय मालवीय जी से हमारा इतना ही परिचय था। समाचार-पत्रों में हम ने उन के व्याख्यानों के सम्बन्ध में बहुत कुछ पढ़ रक्खा था। अंग्रेज़ी में उन्हें 'सिलवर टङ्ग' (रजत-जिह्व) व्याख्याता का विशेषण दिया जाता था। सचमुच वे रजतमय थे। वे गौर-वर्ण तो थे ही, सिर से पैर तक सफेद कपड़े पहनते थे। उनके वे कपड़े भी अपनी विशेषता रखते थे। उस वेश का क्या वर्णन किया जाय। शायद ही कोई ऐसा भारतवासी हो, जो उस वेश को न पहिचानता हो। उसे हम लोक भाषा में 'मालवीय-मारका-वेश' कह सकते हैं। आज भी यदि कोई उस तरह के वेश में दिखाई दे जाय, तो मालवीय जी महाराज या उन के परिवार के किसी व्यक्ति का भ्रम हो जाता है। उस वेश में ब्राह्मणता कूट-कूट कर भरी हुई थी। मालवीय जी की भाषा में मिठास थी और कहने की शैली भी कटुता से हीन थी। लखनऊ-कांग्रेस में आपने जो भाषण दिया, वह तो मेरे हृदय-पट पर विशेषरूप से अङ्कित नहीं हुआ, परन्तु उस के पश्चात् लगभग तीस वर्ष तक मैं निरन्तर बड़ी श्रद्धा से उनके व्याख्यानों को सुनता रहा। मालवीय जी बहुत ऊंचे दर्जे के वक्ता थे। उन के भाषण की एक बड़ी विशेषता यह थी कि वे श्रोताओं के हृदयों के अन्तस्तल में प्रवेश करने के लिये अपनी सारी शक्ति लगा देते थे। सब बातें ऐसे ढंग से कहते थे कि वे श्रोताओं के कानों में बिना किसी

प्रतिरोध के घुस जायें। अप्रिय या खटकने वाली बात वे नहीं कहते थे। कहना ही पड़े तो उसे इतने परदों में लपेट कर कहते थे कि उस का कोई कोना बाहर न रहे और चुभे बिना बात हृदय तक चली जाय। अंग्रेजी और हिन्दी दोनों भाषाओं पर उनका पूरा प्रभुत्व था। उन के भाषण में भाषा का प्रभाव सुरेन्द्रनाथ या विपिनचन्द्र की तरह बरसाती बाढ़ बन कर नहीं रहता था, अपितु वह शीत-ऋतु की भरी हुई गंगा के प्रवाह की तरह हल्की-सी गूंज करता हुआ अनवरत बहता था। इसीलिये आप 'रजत-जिह्व वक्ता' कहलाते थे।

मालवीय जी बड़े कुशल वक्ता थे। उन की कुशलता उस समय बड़ी सुन्दरता से प्रकट होती थी, जब कभी उन्हें आल इण्डिया कांग्रेस कमेटी के अधिवेशन में महात्मा गांधी के किसी कानून-भङ्ग सम्बन्धी प्रस्ताव का विरोध करना होता था। मालवीय जी और महात्मा जी का परस्पर भाइयों का सा व्यवहार था। दोनों ही एक दूसरे का आदर करते थे, प्रेम भी करते थे और कई मुख्य सिद्धान्तों पर एक दूसरे से असहमत भी रहते थे। उस असहमति का मुख्य कारण यह था कि जहां महात्मा जी का मस्तिष्क और हृदय दोनों समानान्तर चलते थे, वहां मालवीय जी के मस्तिष्क और हृदय में कई बार असहमति पैदा हो जाती थी। मोटे शब्दों में हम कह सकते हैं कि उनका मस्तिष्क शीतल होने के कारण नरम-दल के साथ था और हृदय अत्यन्त भावुक होने के कारण राजनीति और समाज के क्षेत्र में काम करने वाले उग्र से उग्र दल के साथ रहता था। यही कारण है कि प्रत्येक परिवर्तन के आरम्भ में वे उस से

असहमत होते थे, परन्तु जब देखते थे कि परिवर्तन से प्रजा का हित होगा और परिवर्तनकारी अपने रास्ते से डिगने वाले नहीं हैं, तब वे न केवल उस परिवर्तन को आशीर्वाद दे देते थे, स्वयं उस के पथ-दर्शक भी बन जाते थे। उस समय उन का मस्तिष्क हृदय का सहायक बन जाता था।

हां, तो मैं यह लिख रहा था कि जब उन्हें गांधी जी के किसी उग्र प्रस्ताव का विरोध करना होता था, तब उन की वक्तृत्व-कला चरम सीमा तक पहुंच जाती थी। वे अपना भाषण महात्मा जी, उन के सिद्धान्त और उन के नेतृत्व की प्रशंसा से आरम्भ करते थे। इस कार्य में प्रायः आधा घण्टा व्यतीत हो जाता था। उस के पश्चात् प्रत्येक श्रोता एक 'किन्तु' की प्रतीक्षा करने लगता था। वह 'किन्तु' उनकी वक्तृता के मार्ग का मोड़ था। उस 'किन्तु' के पश्चात् वे अपने भाषण के पूर्वार्ध का उत्तर देना आरम्भ करते थे और अन्त में प्रस्ताव का विरोध कर देते थे। ऐसे कुशल वक्ता को अपना पूरा अभिप्राय प्रकट करने के लिये अधिक समय लग जाय, यह तो स्वाभाविक ही था। मालवीय जी प्रायः बहुत लम्बा बोलते थे, परन्तु आप का व्यक्तित्व इतना आकर्षक था और भाषा और भाषण-प्रणाली इतनी सुन्दर थी कि श्रोता के थकने का तो प्रश्न ही नहीं पैदा होता था। प्रत्येक भाषण आरम्भ से अन्त तक ध्यान से सुना जाता था।

पाठक जानना चाहेंगे कि ऐसे अवसर पर बहस का परिणाम क्या होता था? परिणाम प्रायः यह होता था कि महात्मा जी का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया जाता था और

मालवीय जी पूरे हृदय से उस के साथ सहमत हो कर सत्याग्रहियों की अगली पंक्ति में खड़े हो जाते थे। उस समय उन के मस्तिष्क और हृदय समानान्तर हो चुके होते थे।

मालवीय जी का व्यक्तित्व अपने समय में अद्भुत था। प्रायः नेता लोग पार्टियों या संस्थाओं से सम्बद्ध होने के कारण नेता कहलाते और सम्मान पाते हैं। मालवीय जी उन से सर्वथा अलग थे। वे स्वयं अपने आप में एक संस्था थे। सब पार्टियों में थे और किसी में भी नहीं थे। उन का व्यक्तित्व अपनी अनूठी ही शान रखता था। उन के सम्पर्क से पार्टियों और संस्थाओं को ज्योति प्राप्त होती थी। उन के इस विशाल व्यक्तित्व को बनाने वाली जो वस्तुएं थीं, उन में से एक उन की मधुर और योग्यतापूर्ण वक्तृत्व-शक्ति भी थी।

लाला लाजपतराय

कांग्रेस के आदिकाल के वक्ताओं में लाला लाजपतराय की चर्चा मैंने अन्त में इस लिये नहीं की कि वक्ताओं की श्रेणी में उन का नाम किसी अन्य वक्ता से नीचे है। उन का उल्लेख अन्त में करने का कारण यह है कि मैंने उन का व्याख्यान बहुत समय पीछे सुना। मैंने लालाजी का पहिला व्याख्यान तब सुना, जब वे अमरीका के लम्बे प्रवास से लौट कर भारत आये थे और पिताजी के निमन्त्रण पर गुरुकुल कांगड़ी में पधारे थे। उस से पूर्व लालाजी का व्याख्यान सुनने का अवसर मुझे नहीं मिला। जहां तक केवल वक्तृत्व-कला का प्रश्न है, मेरी सम्मति में लाला जी का स्थान बहुत ऊंचा था। यदि मैं यह कहूँ कि गत शताब्दी

में हिन्दुस्तानी के जितने वक्ता हुए हैं, लालाजी का स्थान उन सब में प्रथम था, तो असत्य न होगा।

जब मैंने लालाजी का प्रथम व्याख्यान सुना, उन के सम्बन्ध में मेरी तब तक की भावनाओं का भी एक इतिहास है। हम लोग आर्यसमाज के वातावरण में पले थे। पंजाब के आर्य-समाजों में १९ वीं शताब्दी के अन्त में जो गृह-कलह हुआ, वह प्रसिद्ध है। उस में आर्यसमाज दो दलों में बंट गया। एक दल महात्मा पार्टी के नाम से प्रख्यात हुआ और दूसरा कल्चर्ड-पार्टी के नाम से। पिताजी, जो तब लाला मुन्शीराम जी कहलाते थे, महात्मा-पार्टी के प्रमुख नेता समझे जाते थे और लालाजी कल्चर्ड पार्टी के स्तम्भ माने जाते थे। उस पार्टी के प्रमुख नेता यद्यपि महात्मा हंसराज जी थे, तो भी वाग्-युद्ध का सेनापतित्व लालाजी के ही सुपुर्द था। कल्चर्ड-पार्टी की प्रमुख संस्था डी. ए. वी. कॉलिज थी और महात्मा-पार्टी की प्रमुख संस्था गुरुकुल कांगड़ी। इस तरह मौलिक रूप से डी. ए. वी. कॉलिज और गुरुकुल एक दूसरे की प्रतिद्वंद्विता में आ गये थे। स्वभावतः गुरु-कुल से सम्बद्ध होने के कारण प्रारम्भ में मेरे मन में लालाजी के प्रति कोई गहरी भक्ति-भावना नहीं थी। जब वे राजनीति के क्षेत्र में आगे आये और सारा पञ्जाब उन की वीर गर्जना से गूंज उठा, तब अन्य गुरुकुलवासियों की भांति मेरे मन में भी उन के प्रति श्रद्धा का भाव उत्पन्न हो गया था। उस के पश्चात् नौकर-शाही सरकार की ओर से उन पर एक के पीछे दूसरा आक्रमण होने लगा। पहिले वे माण्डले के किले में बन्द किये गये और फिर अमरीका में ही रोक दिये गये। इन सब अत्याचारों ने

देशवासियों के हृदयों में लालाजी के प्रति उत्कट प्रेम और श्रद्धा की भावना उत्पन्न कर दी थी। लालाजी भी राजनैतिक संघर्ष के इन वर्षों में बहुत बदल गये थे। जिन्हें आर्यसमाज के गृह-युद्ध के दिनों में पिताजी का मुख्य प्रतिद्वन्द्वी समझा जाता था, उन्होंने अमरीका से पिताजी को एक पत्र लिखा था, जिस में पिताजी के राजनैतिक और सांस्कृतिक कार्य से सहमति प्रकट करते हुए अन्त में लिखा था—'मैं अमरीका में बैठे हुए आप के कार्यों पर अभिमान का अनुभव करता हूँ!' इस प्रकार देश की स्वतन्त्रता के आन्दोलन ने उन दो वीरात्माओं को एक दूसरे के समीप लाकर खड़ा कर दिया था, जो स्वभाव में, विचारों में और कार्य-प्रणाली में एक दूसरे के इतने निकट थे, जितने निकट शायद ही कोई अन्य दो व्यक्ति हों।

कई बार ऐसा होता है कि हम ने जिस वस्तु या व्यक्ति की बहुत प्रशंसा चिरकाल तक सुनी हो, जब उसे पहिली बार देखते हैं, तब 'नाम बड़े और दर्शन छोटे' की कहावत चरितार्थ हो जाती है। वक्ताओं के प्रभाव के सम्बन्ध में भी प्रायः ऐसा होता है। मुझे स्वयं कई वक्ताओं के सम्बन्ध में बहुत निराशा हुई। बाबू विपिनचन्द्र पाल को समाचार-पत्रों से मैं जैसा वक्ता समझा था, व्याख्यान सुन कर उस से बहुत छोटा पाया। बाबू सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को अपनी पहिले से बनी हुई भावना के अनुसार ठीक पाया। जिन दो वक्ताओं को मैंने अपनी पूर्व भावनाओं से भी अधिक पाया, वे देशरत्न गोखले और पंजाब-केसरी लाला लाजपतराय थे।

डी. ए. वी. कॉलिज के अन्यतम संस्थापक को गुरुकुल-

कांगड़ी के उत्सव पर आया देख कर बहुत से आर्यसमाजियों को आश्चर्य हुआ। उन में से कुछेक ने लाला जी से यह पूछा होगा कि आप डी. ए वी. कॉलिज और गुरुकुल में से किसे अधिक प्यार करते हैं? गुरुकुल में लाला जी ने अपना व्याख्यान इस प्रश्न के उत्तर से ही आरम्भ किया। जब आप के व्याख्यान वेदी पर आने पर करतल-ध्वनि और जयकारों का जो तूफ़ान उठा था, वह शान्त हो गया तब लाला जी ने अपना व्याख्यान निम्नलिखित वाक्यों से आरम्भ किया—

'मुझ से लोग पूछते हैं कि तुम किसे ज्यादा प्यार करते हो— डी. ए वी. कॉलिज को या गुरुकुल को? मेरा जवाब यह है कि मुझे डी. ए. वी. कॉलिज से वैसा प्यार है, जैसा एक पिता को अपने पुत्र से होता है। परन्तु गुरुकुल को मैं उस तरह का प्यार करता हूँ, जो एक प्रेमी को अपनी प्रेमिका से होता है।' लाला जी के ऊंचे तारस्वर में कहे गये इन भावुकतापूर्ण वाक्यों का जनता पर क्या असर हुआ होगा, पाठक इस की कल्पना स्वयं कर सकते हैं। पहिले से भी अधिक जोरदार और लम्बा करतल ध्वनि का तूफ़ान उठा जो बहुत देर में शान्त हुआ। यह पहिले वाक्य थे जो मैंने लाला जी के मुंह से सुने। सारा व्याख्यान कविता और कला के उसी ऊंचे स्तर पर होता रहा। वह व्याख्यान, लाला जी के अन्य अनेक व्याख्यानों की भांति, भावुकतापूर्ण-कला का एक बढ़िया नमूना था।

उस के पश्चात् तो मैंने लाला जी के कई व्याख्यान सुने। वह अपने समय के माने हुए हिन्दुस्तानी के सर्वोत्कृष्ट 'आरेटर'

(भावुकतापूर्ण) वक्ता थे । जिन लोगों को लाला जी के भाषण सुनने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ, वे यह जानने के लिये उत्सुक होंगे कि आखिर उन में ऐसी क्या विशेषता थी, जिस से उन के भाषणों की इतनी प्रशंसा की जाती है । मनुष्य-प्रकृति का विश्लेषण बहुत कठिन काम है । फिर किसी महान व्यक्ति की विशेषताओं का विश्लेषण तो और भी अधिक कठिन काम है । तो भी मैं यत्न करूंगा कि लाला जी की अद्भुत वक्तृत्व-कला का थोड़ा सा विश्लेषण करूं ।

लाला जी की भाषण-शक्ति का सब से पहिला अङ्ग ईश्वर-प्रदत्त था । उन्हें ऐसा कण्ठ-स्वर मिला था, जो विरले व्यक्तियों को ही मिलता है । उसे गर्जन नहीं कह सकते और न चीख ही कह सकते हैं । वह एक मरदाना कण्ठ-स्वर था, जो अपनी साधारण ऊंचाई की दशा में भी हजारों पर पहुँच जाता था । यह तो उस की सामान्य दशा थी । परन्तु जब लाला जी स्वयं किसी भाव से उत्तेजित होते थे या कोई श्रोता प्रश्न कर के उन्हें उत्तेजित कर देता था, तब तो वह स्वर ऊंचा और तीव्र हो कर ऐसा पैना रूप धारण करता था कि कानों के रास्ते से जाकर श्रोताओं के हृदयों के अन्तस्तल तक पहुंच जाता था । उस समय प्रायः लाला जी स्वयं भी इतने भावाभिभूत हो जाते थे कि उनके चेहरे पर और आंखों में हृदय के सम्पूर्ण भाव चमकने लगते थे । कभी आंसू, कभी क्षोभ और कभी हंसी – व्याख्यान देने के समय लाला जी के चेहरे पर यह सब भाव प्रकट होते रहते थे । संभव है मेरे कथन में कुछ पक्षपात का अंश हो, परन्तु मैं यह कहे बिना नहीं रह सकता कि मैंने किसी अन्य व्याख्याता के पास

ऐसा परिमार्जित और भावनाओं को प्रकट करने में कुशल कण्ठ-स्वर नहीं पाया।

लाला जी की अद्भुत भाषण-शक्ति का दूसरा अंग यह था कि उन का हिन्दुस्तानी भाषा पर पूरा प्रभुत्व था। उन्हें अपने मनोभावों को प्रदर्शित करने के लिये कभी शब्दों की तलाश नहीं करनी पड़ती थी। न वे कभी तुतलाते थे और न शब्दों को दोहराते थे। वायु के प्रवाह की तरह उन का शब्द-प्रवाह निर्विघ्न बहता जाता था।

एक बड़ी बात यह थी कि वे व्याख्यान-कला के अभ्यस्त कलाकार थे। जो शक्ति उन्हें प्रकृति से प्राप्त हुई थी, उसे उन्होंने अभ्यास द्वारा खूब परिष्कृत किया था। उन के परिचित लोग कहा करते थे कि वे पूर्वकाल में बड़े शीशे के सामने खड़े हो कर अपने व्याख्यानों की तैयारी किया करते थे। वे उस समय केवल अपने व्याख्यान को तैयार करते थे। बोलने के समय खड़े होने, हाथ उठाने तथा मेज पर हाथ पटकने तक का अभ्यास करते थे। वे नहीं चाहते थे कि व्याख्यान देते समय उन की कोई भी चेष्टा अवसर के विरुद्ध हो। पीछे से तो वे सब बातें उन के लिये स्वाभाविक सी बन गईं। उनका प्रत्येक व्याख्यान व्याख्यान-कला का एक सुन्दर पाठ होता था। मैंने दिल्ली के हिन्दू महासभा के अधिवेशन में उन का एक ऐसा भाषण भी सुना था, जिस में लगभग दस मिनिट में कम से कम दस बार श्रोताओं ने करतल-ध्वनि और जयकारों द्वारा उन के वाक्यों से सहमति प्रकट की। वे बोले भी दस मिनिट तक ही थे। जब वे अपने पूरे भाषण के मूड में होते थे, तब वे श्रोताओं

को अपने साथ पूरी तरह बहा ले जाते थे।

इस का यह अभिप्राय न समझ लेना चाहिये कि उन के *सब भाषण एक ही पाये के होते थे। वे भावुकता-प्रधान वक्ता* थे। जहां केवल तार्किक-विचार या अंकों की गणनाओं का प्रश्न हो, वहां वे दूसरों के लिये स्थान छोड़ देते थे। यदि बोलते थे तो बहुत थोड़ा। असेम्बली के सदस्य की हैसियत से उन्होंने जो कार्य किया, उस में भाषणों का अंश बहुत थोड़ा था।

—

४

कांग्रेस में गाधी-युग

देश की राजनीति के इतिहास में गांधी-युग का आरम्भ रौलट-ऐक्ट के विरुद्ध आंदोलन से हो गया था। उस से पूर्व महात्मा गांधी का कार्यक्षेत्र मुख्यरूप से दक्षिण अफ्रीका में रहा था। वहां महात्मा जी ने गोरों की उग्र दमन-नीति का जिस दृढ़ता और सुन्दरता से मुकाबला किया था, उस के समाचारों ने भारत में उन का यश और गौरव बहुत विस्तृत रूप से फैला दिया था। तो भी हम कह सकते हैं कि क्रियात्मक रूप से भारत की राजनीति में उन का प्रवेश तब हुआ, जब उन्होंने रौलट-ऐक्ट के विरोध में सत्याग्रह की घोषणा की।

इस तरह भारत की राजनीति में तो महात्मा जी का का प्रवेश १६१६ के आरम्भ में ही हो गया था; परन्तु कांग्रेस

में उन का प्रवेश कई महीनों के पश्चात् हुआ। १९१९ के आरम्भ और अन्त के बीच में देश में जो घटनायें घटीं, उन्हें यहां पूर्णरूप से दोहराना आवश्यक नहीं। इतना ही स्मरण करा देना पर्याप्त है कि रौलट-ऐक्ट पर असन्तोष प्रकट करने के लिये सत्याग्रह-समिति की ओर से हड़ताल की घोषणा की गई, जिस से विक्षुब्ध हो कर अंग्रेजों की सरकार ने अपना दिमाग खो दिया। फलतः जगह-जगह गोलीकांड हुए, दंगे-फिसाद हुए और अन्त में पंजाब में माशल-ला लागू हुआ। इन सब घटनाओं ने देश के वातावरण को बिल्कुल बदल दिया। १९१९ से पहिले देश का जो असन्तोष आंदोलन के रूप में प्रकट होता था, उस ने उस वर्ष के अन्त में क्रान्ति का रूप धारण कर लिया। इस महान् परिवर्तन की केन्द्रीभूत मूर्ति महात्मा गांधी की थी।

उपयुक्त परिवर्तन अमृतसर की कांग्रेस के अवसर पर बड़े मनोरंजक और सनसनीपूर्ण रूप में प्रकट हुआ। कांग्रेस के सामने जो मुख्य प्रस्ताव आने वाला था, उस पर वहां उपस्थित नेताओं में तीव्र मतभेद था। अनेक विचारधारायें एक दूसरे को काटती हुई प्रतीत होती थीं। मैं भी प्रतिनिधि के रूप में उस अधिवेशन में उपस्थित था। वहां स्पष्ट दिखाई दे रहा था कि व्यतीत काल और वर्तमान के जोरदार संघर्ष में भविष्य का निर्माण हो रहा है। अन्त में जो परिणाम निकला, उसे हम कांग्रेस में महात्मा गांधी की प्रमुखता के नाम से पुकार सकते हैं। अमृतसर-कांग्रेस में पुराने नेताओं के हाथ से निकल कर कांग्रेस की बागडोर महात्मा जी के हाथ में आ गई। गांधी-युग

अपने सब अङ्गों और उपांगों के साथ अवतीर्ण हो गया

काँग्रेस के युग-परिवर्तन का जहाँ और सब चीजों पर प्रभाव पड़ा, वहाँ काँग्रेस की वक्तृत्व-कला पर भी बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। उस में भी क्रान्ति हो गई। वह क्रान्ति क्यों हुई और उसका क्या रूप था, यह समझने के लिये हमें पहले यह देखना होगा कि महात्मा जी की वक्तृत्व-शक्ति की क्या विशेषताएँ थीं ? वे कैसे वक्ता थे ? उन का संसार के बड़े वक्ताओं में कौन सा स्थान था ? साथ ही हमें यह भी देखना होगा कि काँग्रेस पर महात्मा जी को प्रभुता का अन्य वक्ताओं की वक्तृत्व-कला पर क्या असर पड़ा ?

महात्मा गाँधी वक्ता के रूप में

महात्मा जी का व्यक्तित्व अत्यन्त महान् था। उस की बहुत बड़ी विशेषता यह थी कि वह एक अखंड व्यक्तित्व था। महात्मा जी के बारे में यह भेद नहीं किया जा सकता कि उन का निजू-जीवन ऐसा था और सार्वजनिक जीवन वैसा। न यही कह सकते हैं कि उन की राजनीति एक ओर जाती थी और धर्म दूसरी ओर। वह जीवन के प्रत्येक अङ्ग में और प्रत्येक हैसियत में, बस, अखंड और एकरूप गाँधी जी थे। ऐसे व्यक्ति के सार्वजनिक जीवन के एक छोटे से अंग—वक्तृत्व-शक्ति का विश्लेषण करना अत्यन्त कठिन कार्य है। तो भी जिस विषय पर मैं लिख रहा हूँ, उस पर एक पग भी आगे चलना असम्भव है, जब तक हम यह न समझ लें कि महात्मा जी की वक्तृत्व-कला की क्या विशेषताएँ थीं और उन के भाषणों की असाधारण सफलता का क्या रहस्य था ?

सामान्य रूप से प्रभावशाली वक्ता में निम्नलिखित गुणों की आवश्यकता समझी जाती है—

१. शरीर का प्रभावशाली गठन। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, लाजपतराय, गोखले आदि प्रसिद्ध वक्ताओं को यह विभूति प्राप्त थी।

२. ऊँचा और रोबीला कण्ठस्वर। यह तो बड़े वक्ता की विशेषता सर्व सम्मत ही है कि उसे आकर्षक और प्रभावशाली कण्ठस्वर प्राप्त हो। संसार के प्रायः सभी प्रसिद्ध वक्ताओं को परमात्मा की ओर से यह देन प्राप्त हुई थी।

३. वक्तृत्व-कला का तीसरा प्रमुख अंग वक्ता के शब्द और भाव हैं। वक्ता की प्रत्येक चेष्टा, उस के स्वर का उत्थान और पतन, उस के चेहरे की आकृति में भावों के अनुरूप परिवर्त्तन—ये सब चीजें श्रोताओं पर वक्ता के प्रभाव को अंकित करने का कारण होती हैं।

४. वक्तृत्व-कला का अन्तिम, परन्तु शायद सब से प्रमुख अंग जोरदार और सुसंस्कृत शब्दों का प्रयोग है। सिसरो, बर्क, ग्लैडस्टन, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और लाजपतराय जैसे प्राचीन और नवीन वक्ताओं को जो सफलता प्राप्त होती थी, उस का एक मुख्य कारण उपर्युक्त और प्रभावशाली शब्दों का वह प्रवाह था जो श्रोताओं को अपने साथ बहा ले जाता था।

यदि हम भावुकता को छोड़ कर निष्पक्षपात दृष्टि से गाँधी जी की वक्तृत्व-कला का विश्लेषण और विवेचन करें, तो हम उपर्युक्त चारों विशेषताओं का महात्मा गाँधी में यदि अत्यन्त

अभाव नहीं, तो अत्यन्त न्यूनता अवश्य पाते हैं। महात्मा जी का शरीर बहुत ही संक्षिप्त-सा था। उसे शरीर का केवल 'टोकन' कह सकते हैं। चेहरे में भौतिक सुन्दरता भी नहीं थी। कण्ठ-स्वर स्पष्ट तो था, परन्तु ऊँचा या थर्राता हुआ नहीं था। उस में उतार-चढ़ाव भी अधिक नहीं होते थे। भावानुभाव का यह हाल था कि प्रायः बैठ कर बोलते थे। बोलने के समय शरीर को बहुत ही कम हिलाते-डुलाते थे। केवल एक हाथ उठाने की चेष्टा को छोड़ कर भाषण के समय कोई चेष्टा नहीं करते थे। भाषा के सम्बन्ध में यह तो मानना पड़ेगा कि वह अत्यन्त स्पष्ट और जोरदार होती थी; परन्तु उस में न कोई बनावट होती थी और न शब्दों के प्रवाह द्वारा श्रोताओं पर हावी होने की चेष्टा होती थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि जिन विशेषताओं ने संसार के बड़े-बड़े व्याख्याता और 'आरेटर' बनाये हैं, उन का महात्मा जी में बहुत कुछ अभाव था। परन्तु फिर भी यह सर्वसम्मत बात है कि भारत के वातावरण में १६२० से लेकर १६४७ तक यदि कोई स्वर सब से ऊँचा और सब से अधिक प्रभावशाली सुनाई देता रहा है और यदि किसी स्वर ने एक युग तक ४० करोड़ निवासियों से भरे हुए देश पर एकच्छत्र शासन किया है, तो वह गाँधी जी का स्वर था। यह एक वैज्ञानिक समस्या है कि जिन गुणों के कारण लोग सुवक्ता बनते हैं, उन गुणों के न होते हुए भी महात्मा जी इतने प्रभावशाली वक्ता किन कारणों से थे ? वह कौन-सी विशेषताएँ थीं जो उन के शब्दों में इतना गजब का ओज और प्रभाव भर देती थीं ?

अद्भुत व्यक्तित्व

जिस समय महात्मा गाँधी ने काँग्रेस के रङ्गमंच में प्रवेश किया, उस समय उन का अद्भुत और आकर्षक व्यक्तित्व बन चुका था। मनुष्य, स्वभाव से जिन गुणों के सामने सिर झुकाता है, महात्मा जी में उन गुणों की विद्यमानता भारत-वासियों पर अंकित हो चुकी थी। उन के तप, त्याग और दृढ़ता की कहानियाँ समुद्र पार कर के दक्षिण अफ्रीका से भारत तक पहुँच चुकी थीं। स्वभाव से भारतवासी जिन गुणों का आदर करते हैं, जिन के कारण वे मनुष्यों को ऋषि और मुनि की पदवी देते रहे हैं, महात्मा जी में वे गुण प्रकाशित हो चुके थे। वे जब अमृतसर-काँग्रेस की व्याख्यान-वेदी पर आये, तब उन का महान् व्यक्तित्व बन चुका था। यह पहिला कारण था कि उन के सीधे-साधे शब्द भी श्रोताओं पर जादू का असर रखते थे। वह जादू श्रद्धा का था।

सत्य का बल

महात्मा जी की भाषा में यह विशेषता थी कि वह बहुत ही सरल और सीधी होती थी। उस में शब्दों की गाँठ नहीं होती थी और न हृदय के भावों को छिपाने के लिये शब्दों का जाल रचा जाता था। जब जैसा विचार करते थे, वैसा ही कहते थे। और जितना आवश्यक होता था, उतना ही कहते थे। जनता का यह विश्वास कि महात्मा जी सदा सत्य कहते हैं, उन के शब्दों की शक्ति बहुत बढ़ा देता था। हृदय से निकले हुए शब्द न किसी कला की अपेक्षा करते थे और न किसी इंगित या चेष्टित की। वे अपना असर अनायास ही कर

देते थे। यह गाँधी जी के भाषणों के असाधारण प्रभाव का दूसरा कारण था।

शब्दों के पीछे क्रिया का बल

महात्मा जी के शब्दों को ओजस्वी और बलशाली बनाने वाली सब से प्रमुख जो वस्तु थी, वह यह थी कि उन के राई जितने शब्द के अन्दर पर्वत जितनी क्रिया अन्तर्हित रहती थी। वे जो कुछ कहते थे, उस से अधिक करने का संकल्प रखते थे और संकल्प को बहुत कुछ पूरा करने की शक्ति भी रखते थे। जो वाक्य अन्य वक्ताओं द्वारा कहा जाकर 'धमकी' इस नाम से पुकारा जा सकता था, वही वाक्य गाँधी जी के मुख से निकल कर अन्तिम सूचना मात्र समझा जाता था। जब वे कहते थे कि मैं सत्याग्रह करूँगा, तो उस का अभिप्राय यही होता था कि वे सत्याग्रह करेंगे। जब वे यह स्थापना करते थे कि यदि सरकार ने अपना रुख न बदला तो देश में शान्तिमय क्रान्ति हो जायगी, तो वे उस क्रान्ति को उत्पन्न करने की मन्शा भी रखते थे और शक्ति भी। भारतवासी इस बात को जान गये थे और अंग्रेजी सरकार भी इस परिणाम पर पहुँच चुकी थी कि गाँधी जी की कोई धमकी खोखली नहीं होती। एक शब्द की पीठ पर सौ क्रियाओं की गठरी लदी होती थी। इस कारण उन का एक शब्द अन्य वक्ताओं के सौ-सौ वाक्यों से अधिक बल रखता था।

ये तीन कारण थे जिन से महात्मा जी के भाषणों का भारत की जनता पर, भारत-सरकार पर और धीरे-धीरे सारे विश्व पर अद्भुत और चमत्कारी प्रभाव होने लगा था।

हम कह सकते हैं कि महात्मा जी में भी एक वक्तृत्व-कला तो थी, परन्तु वह अन्य मनुष्यों से सर्वथा भिन्न, कृत्रिमता-विहीन वक्तृत्व-कला थी।

महात्मा जी की चमत्कारपूर्ण वक्तृत्व-कला का देश के भाग्य-निर्माण पर जो असर हुआ, उसे सारा संसार जानता है। कांग्रेस के रंगमंच पर आने वाले वक्ताओं की वक्तृत्व-शक्ति पर उसका क्या असर हुआ, यह आगे बताया जायगा।

—

५

गाँधी युग के वक्ता

जिस समय महात्मा गाँधी भारत की राजनीति में और काँग्रेस की व्याख्यान-वेदी पर एक साथ ही अवतीर्ण हुए उस समय युग परिवर्तन हो रहा था। परिवर्तन-काल में पुराने और नये का संघर्ष अवश्यम्भावी है। काँग्रेस की नीति में भी पुराने और नये का संघर्ष अमृतसर-कॉंग्रेस के अवसर पर हुआ।

अमृतसर-काँग्रेस से पूर्व भारत का वातावरण बहुत ही गर्म हो चुका था। पञ्जाब में मार्शल-लॉ का दौर-दौरा समाप्त हो गया था, परन्तु उस के लगाये हुए घाव अभी हरे थे। जनता के हृदय में क्रान्ति की भावना भरने के लिए जिस सामग्री की आवश्यकता होती है, पञ्जाब में वह सांगोपांग विद्यमान थी। अंग्रेजी सरकार ने उस गर्मी को कम करने के लिए दो कार्य किये। एक तो इङ्गलैंड की पार्लमेंट में सम्राट् का एक घोषणा-पत्र सुनाया गया, जिस में भारत को स्वराज्य देने

का वायदा दोहराया गया था। दूसरा काम यह किया कि गत वर्ष के बहुत से राजनैतिक बंदियों को अधिवेशन से चार दिन पहले मुक्त कर दिया। सरकार के इन कामों ने एक नई परिस्थिति पैदा कर दी। जब खुले अधिवेशन में उपस्थित करने के लिये मुख्य राजनैतिक प्रस्ताव का मसविदा तैयार होने लगा, तब चार मसविदे सामने लाये गये। वे चार विचार-धाराओं के प्रतिनिधि थे। वैसे तो माडरेट या लिबरल-दल को सरकार की दमन-नीति ने समाप्त-सा ही कर दिया था; फिर भी अमृतसर में कुछ ऐसे लोग पहुँचे हुए थे, जो चाहते थे कि सम्राट् की घोषणा और राजनैतिक बन्दियों की मुक्ति को दृष्टि में रखते हुए कांग्रेस को सरकार के प्रति विशेष विरोधी भावना न रखनी चाहिए और उदारता के लिए सरकार का धन्यवाद करना चाहिए। इस के विपरीत गर्म-दल का यह प्रस्ताव था कि सम्राट् की घोषणा सर्वथा अपर्याप्त है; इस कारण अपने रुख में कोई परिवर्तन न किया जाय और तत्काल पञ्जाब के अत्याचारों के प्रतिशोध की माँग की जाय। उस काँग्रेस में लोकमान्य तिलक भी सम्मिलित हुए थे, उन्होंने सम्राट् की घोषणा अमृतसर जाते हुए रास्ते में समाचार-पत्र में पढ़ी थी। वहीं एक संवाददाता के पूछने पर उन्होंने कहा था कि वह घोषणा जहाँ तक अच्छी है, वहाँ तक उस का स्वागत करना चाहिए और अधिक के लिये माँग करनी चाहिए। इस का नाम उन्होंने Responsive Co-operation रखा था। महात्मा गाँधी का का मत अलग ही था। उन का कहना था कि सरकार के अच्छे कामों के लिये उस की हार्दिक प्रशंसा

करनी चाहिये; साथ ही अपना ध्येय स्पष्टता और पूरे बल के साथ प्रकट करते हुए यह आशा भी प्रकट करनी चाहिए कि सरकार अपने वायदों को शीघ्र ही पूर्ण करेगी। यदि सरकार अपने वायदों को पूरा नहीं करेगी तो हम क्या करेंगे, यह अभी प्रकाशित करने की आवश्यकता नहीं है। महात्मा जी का सिद्धांत यह था कि प्रारम्भ में विरोधी पर भी पूर्ण विश्वास करो। यदि वह विश्वासघात करे, तो हम उस को क्या उत्तर देंगे, उस का ढिंढोरा पहिले से पीटना अनावश्यक है। हमारे तूणीर में जो तीर हैं उनका तूणीर में रहना ही अच्छा है। युद्ध-काल से पहिले ही उन्हें निकाल कर मेज पर रख देना बुद्धिमत्ता का कार्य नहीं

नेताओं और प्रतिनिधियों में तीन दिन तक इस प्रस्ताव की चहल-पहल रही। गर्म-दल के नेता मालवीय जी महाराज को समझ लीजिये। शेष रहे लोकमान्य तिलक और महात्मा जी, उन के बारे में यह कहा जा सकता है कि आयु की दृष्टि से लोकमान्य तिलक का जीवन-सूर्य मध्याह्न से अस्ताचल की ओर जा रहा था और महात्मा जी का जीवन-सूर्य पूर्वाचल से मध्याह्न की ओर। यों अमृतसर में सब से अधिक जोरदार स्वागत लोकमान्य तिलक का हुआ था। स्वभाव से जोशीले पञ्जाब के नवयुवक उस तपस्वी के दर्शनों को टूटे पड़ते थे। जब काँग्रेस के प्रतिनिधियों को यह मालूम हुआ कि मुख्य प्रस्ताव के सम्बन्ध में लोकमान्य तिलक और महात्मा गाँधी में मतभेद है, तो उन की एक मण्डली लोकमान्य तिलक की सेवा में पहुँची और निवेदन किया कि यदि आप स्पष्ट रूप से अपनी सम्मति हम

लोगों को बता दें और सार्वजनिक रूप से प्रकाशित कर दें, तो काँग्रेस में वही स्वीकार की जायगी; क्योंकि प्रतिनिधियों में बहुमत आप के पक्ष में है—गाँधी जी भी उस का विरोध नहीं कर सकेंगे। उस मण्डली में मैं भी था। मेरा झुकाव उस समय लोकमान्य की विचार-प्रणाली की ओर अधिक था। लोकमान्य ने उस समय हम लोगों को जो बात समझाई, उसे मैं कभी नहीं भूल सकता। उन्होंने जो कुछ कहा, उस का अभिप्राय यह था—'मैं अब थक गया हूँ, अधिक समय तक कार्य नहीं कर सकता। भविष्य में देश को जिस व्यक्ति का नेतृत्व स्वीकार करना चाहिए वह गाँधी जी ही हैं। मैं सब लोगों को यही सलाह देता हूँ कि वे गाँधी जी को ही देश का भावी राजनैतिक नेता स्वीकार करें।' लोकमान्य के हृदय से निकले हुए इन वाक्यों का मुझ पर और मेरे जैसे अन्य युवकों पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। जब लोकमान्य और महात्मा जी का मतविरोध जाता रहा, तब देशबन्धु दास और उन के सहयोगियों ने भी अपना विरोध शिथिल कर दिया और अन्त में जो प्रस्ताव काँग्रेस में सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ, यद्यपि उसे लोकमान्य तिलक ने सम्पुष्ट किया था, तो भी प्रस्ताव की स्वीकृति के समय जिस जयघोष से पण्डाल गुंजायमान हुआ, वह था 'महात्मा गाँधी की जय!' महात्मा जी ने इस प्रकार लोकमान्य तिलक के आशीर्वाद से काँग्रेस की व्याख्यान-वेदी पर विजय प्राप्त कर ली। उस के पश्चात् काँग्रेस की व्याख्यान-वेदी गाँधीमय हो गई।

काँग्रेस की व्याख्यान-वेदी पर महात्मा जी का प्रभुत्व हो

जाने के कुछ आवश्यक परिणाम हुए, जिन में से निम्नलिखित मुख्य थे—

१. लच्छेदार वाक्य-रचना तथा भावुकतापूर्ण भाषण-शैली का प्रभाव घट गया। महात्मा जी के सरल और भावपूर्ण शब्दों का श्रोताओं पर इतना प्रभाव पड़ता था कि शब्द-जाल की कोई गुंजाइश ही नहीं रहती थी। बड़े-बड़े ऑरेटर, जो इस से पूर्व श्रोताओं को मन्त्र-मुग्ध कर लिया करते थे, वे अपने आप को महात्मा जी की उपस्थिति में 'भोगीव मन्त्रौषधिरुद्धवीर्यः' अनुभव करते थे। प्रतीत होता था, मानों उन की शक्ति मन्त्रौषधि के बल से रोक दी गई है। धीरे-धीरे स्थिति यह हो गई थी कि यदि वे सुवक्ता महात्मा जी के समर्थन में बोलें तो अन्यथा सिद्ध प्रतीत होते थे और यदि विरोध में बोलें, तो परास्त होना पड़ता था, जिस से उन की व्याख्यान-शक्ति की ख्याति धीरे-धीरे क्षीण हो जाती थी। एक समय आया, जब काँग्रेस के मंच पर से भाषा अथवा जानकारी की दृष्टि से बहुत ऊंचे दर्जे के भाषण सर्वथा व्यर्थ और रीति-विरुद्ध समझे जाने लगे।

२. महात्मा जी सब विषयों का प्रतिपादन कुछेक मूल-सिद्धान्तों के बल पर करते थे। वे आंकड़ों या ऐतिहासिक घटनाओं की सहायता से किसी प्रस्ताव का समर्थन नहीं करते थे। उन के पास सत्य और अहिंसा की दो कसौटियां थीं। उन पर कस कर वे सब विचारणीय प्रश्नों पर अपना निर्णय देते जाते थे। वे सब समस्याओं का हल परमात्मा और आत्मा की गवाही से करते थे। इतिहास अथवा नीति-शास्त्र के उदाहरणों

का उन में कोई स्थान नहीं था। उन के मूल-सिद्धान्त इतने दृढ़ थे और उन की आत्मा का स्वर इतना ऊँचा था कि भारत-वासियों के मन और हृदय उन के वशीभूत हो गये थे। उन्हें न आँकड़ों की आवश्यकता रही थी और न सुन्दर भाषा में प्रकट किये गये राजनीति के सिद्धान्तों अथवा उद्धरणों की। 'यथा राजा तथा प्रजा' वाली कहावत के अनुसार जिस पद्धति पर महात्मा जी चलते थे, उन के अनुयायियों ने उसी पर चलने का यत्न किया। १६२० से लेकर १६४७ तक कॉंग्रेस के व्याख्यान-मंच पर भाषण-कला नाम की वस्तु का कोई स्थान नहीं रहा था। सब सत्य तो महात्मा जी ही कह जाते थे; अन्य कॉंग्रेसियों का कार्य तो उन सत्यों को दोहराना ही था। उस के लिए परिमार्जित भाषा, या कलापूर्ण भाषण-प्रणाली की जरूरत ही क्या थी। यही कारण था कि गाँधी-युग में उत्कृष्ट भाषा, परिश्रमपूर्वक तैयार किये हुए आँकड़े या तर्कशास्त्र की पद्धति पर गढ़ी हुई युक्तियों का आदर सर्वथा लुप्त हो गया था। यदि कोई इन हथियारों का प्रयोग करता भी था, तो वह थोड़े ही समय में या तो नर्म पदवी को प्राप्त कर लेता था अथवा तीसरे दर्जे का नेता समझा जाता था। महात्मा जी के अनुयायियों में बहुत से ऐसे व्यक्ति थे, जो उस से पूर्व उन सब कलाओं में प्रवीण थे, जिन के कारण पूर्व युग के नर्म-नेता ख्याति प्राप्त करते थे। बड़े-बड़े वकील थे, प्रोफेसर थे और पत्रकार थे। परन्तु महात्मा जी के साँचे में आकर वे सब एकाकार हो गये थे। उन्हें वही सीधी सादी भाषण-प्रणाली अपनानी पड़ी, जिस के परम आचार्य महात्मा गाँधी थे। यदि कभी उन का कोई

अनुयायी उन की बनाई हुई पटरी से उतर जाता था तो महात्मा जी निजी पत्र 'यंग इण्डिया' अथवा किसी भाषण में मीठे ढंग से उस के कान खेंचने में देर न लगाते थे। यदि वह कभी भूल कर ग्रॉरेटरी के रास्ते पर पड़ जाता तो महात्मा जी कड़ी चेतावनी के साथ उसे सत्य और अहिंसा के राजमार्ग पर वापस बुला लेते थे।

इस प्रकार बहुत कुछ एकाकार हो जाने पर भी गाँधी-युग के प्रमुख वक्ताओं की अपनी-अपनी विशेषताएँ तो थीं ही। 'मुंडे-मुंडे मतिर्भिन्ना, तुण्डे-तुण्डे सरस्वती' इस नियम को गाँधी जी का कड़ा अनुशासन भी न बदल सका।

पण्डित मोतीलाल नेहरू

गाँधी-युग के वक्ताओं में से सर्वप्रथम स्थान पण्डित मोतीलाल नेहरू का है। मुझ से यदि यह पूछा जाय कि महात्मा गाँधी की सब से बड़ी जीत कौन सी थी, तो मैं यह उत्तर दूंगा कि महात्मा जी ने पंण्डित मोतीलाल जी को अपना अनुयायी और मित्र बना लिया, यह उन की सब से बड़ी जीत थी। वह जीत उन अनेक बड़ी-बड़ी विजयों का प्रारम्भ था, जो आगामी वर्षों में महात्मा जी को प्राप्त हुईं।

१६१६ में पण्डित मोतीलाल जी कोई कच्चे विचारों के नौजवान नहीं थे। उस समय वे प्रौढ़ावस्था पार कर चुके थे। सांसारिक वैभव और ख्याति की दौड़ में देश में उन का पहिला या दूसरा नम्बर था। इलाहाबाद हाई-कोर्ट के वकीलों में तो वे नेता माने ही जाते थे, भारत के ख्यातिप्राप्त वकीलों में भी

उन का स्थान बहुत ऊँचा था। वकालत से उन की मासिक आय की राशि प्रायः लाखों तक पहुँच जाती थी। इलाहाबाद में उन के निवास-स्थान 'आनन्द भवन' के मुकाबले की दूसरी कोई कोठी नहीं थी। लैफ्टिनेंट-गवर्नर की कोठी भी उस के सामने मात थी। यह मशहूर था कि पण्डित जी के परिवार के कपड़े धुलने के लिए पैरिस जाते थे और उन के डाइनिंग-टेबिल के लिए पेस्ट्री इङ्गलैंड से तैयार होकर आती थी।

१६१६ से पूर्व राजनीति में पं० मोतीलाल जी की गिनती काँग्रेस के मॉडरेट नेताओं में की जाती थी। जब सूरत में घरू फूट ने काँग्रेस को दो दलों में विभक्त किया था, तब मॉडरेट सभापति डा० रासबिहारी घोष के नाम का समर्थन करने वाले पं० मोतीलाल नेहरू ही थे। उस समय वे मॉडरेट-पार्टी के वयोवृद्ध और समृद्ध नेता माने जाते थे। पञ्जाब में मार्शल-लॉ लागू हो जाने के पश्चात् काँग्रेस की ओर से जो तहकीकाती कमेटी बनाई गई, पण्डित जी को उस का अध्यक्ष नियुक्त किया गया था। इलाहाबाद से लाहौर जाते हुए पण्डित जी दिल्ली में ठहरे थे। तब तक मैंने उन का नाम तो सुना था, परन्तु दर्शन नहीं किये थे। पण्डित जी और पिता जी (स्वामी श्रद्धानन्द जी) इलाहाबाद में कालिज में पढ़ते समय सहपाठी थे। परन्तु यह बात तब तक दोनों को याद न आई, जब तक वे इस अवसर पर दिल्ली में एक दूसरे के सामने नहीं आये। पिता जी उन दिनों पञ्जाब के मार्शल-लॉ-पीड़ितों की सेवा के कार्य का नेतृत्व कर रहे थे, इस कारण पण्डित जी ने लाहौर जाते समय उन से मिलना आवश्यक समझा। एक दिन प्रातः

काल (तिथि याद नहीं) पिता जी के स्थान पर जाने पर मालूम हुआ कि पं० मोतीलाल जी मिलने के लिए आ रहे हैं। उत्सुकतावश मैं वहीं ठहर गया। थोड़ी देर में पण्डित जी सीढ़ियों से चढ़ कर ऊपर आये। उन का उस समय का रूप और वह दृश्य पूरी स्पष्टता के साथ अब भी मेरी आँखों में घूम रहा है। पण्डित जी का सारा सूट (कोट-पैंट आदि) सफेद रेशम के थे। सफेद हैट हाथ में पकड़ी हुई थी। श्वेतवर्ण चेहरे पर किनारों पर से ऊपर को मुड़ी हुई शानदार सफेद मूँछें राजपूती चेहरे का स्मरण करा रही थीं। गति में दृढ़ता थी और आँखों में तेज था। पण्डित जी ऊपर आये तो पिता जी कमरे से निकल कर आगे बढ़े। उस समय एक क्षण के लिये दोनों ही जहाँ के तहाँ ठिठक से गये। दोनों ने एक दूसरे को देखा तो दोनों के मुँह से एक ही शब्द निकला, 'अच्छा तुम !' इस का अभिप्राय यह था कि दोनों ने एक पूरी आयु के पश्चात् एक दूसरे को देखा तो पहिचान गये कि वही कालिज में साथ खेलने वाले साथी हैं। दोनों ने एक दूसरे को पहिचान लिया और तकल्लुफ खतम हो गया। उस समय उस के पश्चात् जितनी बातें हुईं, सब 'तुम' इस सम्बोधन के साथ ही हुईं। पीछे से सार्वजनिक जीवन में पड़ कर तो सहमति और मत-भेद दोनों ही होते रहे और उन का निजू सम्बन्धों पर थोड़ा-बहुत प्रभाव भी पड़ता रहा, परन्तु यह असन्दिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि दोनों में परस्पर बन्धुभाव अविच्छिन्न रूप में विद्यमान रहा। प्रसङ्ग आया है तो यहाँ यह लिख देना भी असम्बद्ध न समझा जायगा कि मेरे प्रति पं० मोतीलाल जी का

भाव सदा वैसा ही बना रहा, जैसा पिता का पुत्र के प्रति होना चाहिये।

अमृतसर-काँग्रेस में पिता जी स्वागताध्यक्ष थे और पं० मोतीलाल जी सभापति। उस अवसर पर मैंने पहिली बार पण्डित जी का भाषण सुना। पण्डित जी का भाषण सारगर्भित और युक्तिपूर्ण होता था। वे सदा श्रोताओं के मस्तिष्क पर प्रभाव डालने का यत्न करते थे। एक योग्य वकील को जिस भाषण-शैली से काम लेना चाहिये, पण्डित जी उस के उस्ताद थे। अंग्रेज़ी और उर्दू दोनों भाषाओं पर उन का पूर्ण प्रभुत्व था। साथ ही ज़िन्दादिली उन का विशेष गुण था। बड़े से बड़े कठिन समय में वे विनोद कर सकते थे, खिलखिला कर हँस सकते थे और गम्भीर से गम्भीर कठिनाई को हँसी में उड़ा सकते थे। उन का यह गुण भाषण के प्रभाव को बढ़ाने में बहुत उपयोगी सिद्ध होता था। वे विरोधी की अनर्गल युक्तियों का उत्तर देने में अधिक परिश्रम नहीं करते थे, प्रत्युत उसे विनोद की चुटकियों में उड़ा देते थे। इस प्रकार मौलिक रूप में वे कुशल वक्ता थे। साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि जनता के लाड़ले ऑरेटरों में जो विशेषताएँ होती हैं, उन में से एक बड़ी विशेषता का उन में अभाव था। वे दमे के पुराने मरीज थे, इस कारण उन का गला बहुत ऊँचा नहीं उठ सकता था और न उन के स्वर का तार बंधता था। जब कभी जोर से बोलना पड़ता था, तो प्रायः खाँसी उठ खड़ी होती थी, जो भाषण में विघ्न पैदा कर देती थी। इस कमी के कारण उन्हें जन साधारण को उत्तेजित करने वाला ऑरेटर नहीं कहा जा

सकता। वे बहुत कुशल वक्ता थे। उन की जोरदार स्पष्ट भाषा और युक्तियों का जनता पर जो प्रभाव पड़ता था, वही उन्हें जन-नेता बनाने के लिये पर्याप्त था।

यह मैंने पण्डित जी के कॉंग्रेस में प्रारम्भिक जीवन की बात कही। कुछ समय पश्चात् तो नक्शा ही बदल गया। पण्डित जी ने महात्मा गाँधी की आध्यात्मिक प्रेरणा से अपनी अतुल विभूति और सुखैषणा का जो अनुपम बलिदान किया, उस ने उन के व्यक्तित्व को बहुत ऊँचा उठा दिया—इतना ऊँचा उठा दिया कि उन का कहा हुआ एक-एक शब्द हज़ार-हज़ार शब्दों का बल रखता था। ऑरेटर के योग्य भौतिक विशेषता के न होते हुए भी गाँधी-युग में पण्डित मोतीलाल नेहरू के भाषण बिजली का-सा असर रखते थे। यदि गाँधी-युग से पूर्व के वक्ताओं से पण्डित मोतीलाल नेहरू की तुलना करें तो कहना पड़ेगा कि केवल पुरानी वक्तृत्व-कला की दृष्टि से वे कुछ न्यून थे; परन्तु वह वक्तृत्व-कला जिस में वक्ता का व्यक्तित्व सब से अधिक महत्व रखता है, पण्डित जी को वक्ताओं में बहुत ऊँची कोटि पर बिठा देती है।

यह तो हुई सार्वजनिक भाषणों की बात। जब हम धारासभाओं अथवा आल इण्डिया कॉंग्रेस कमेटी जैसी परिमित सभाओं के दृष्टिकोण से विचार करें, तो पण्डित मोतीलाल जी की तुलना का व्यक्ति दिखाई नहीं देता। जिस व्यवस्थापिका-सभा के भवन में आज पण्डित जवाहरलाल नेहरू सरकारी-नेता की हैसियत से विराजमान हैं, उसी भवन में आज से बहुत पहिले उन के पिता विरोधी-दल के नेता के रूप में बैठे थे।

तुलना कभी अच्छी नहीं होती और फिर योग्य पिता और योग्य पुत्र में तुलना तो और भी असुविधाजनक है। मैंने तब भी देखा और अब भी देखता हूँ और मैं इतना लिखे बिना नहीं रह सकता कि कौंसिलचेम्बर में विरोधी पार्टी के नेता पण्डित मोतीलाल नेहरू का जो रोब-दाब और राजाओं जैसा ठाठ था, वह आज भी किसी व्यक्ति का दिखाई नहीं देता। जिस समय सफेद खद्दर के रूप में परिष्कृत होकर पण्डित जी अपनी गम्भीर गति से कौंसिल-चेम्बर में प्रविष्ट होते थे उस समय सरकारी कुर्सियों पर बैठने वाले अंग्रेज महापुरुषों को भी सहम कर खड़े हो जाना पड़ता था। पण्डित जी द्वारा धारासभा में की गई आलोचनाओं से सरकार थर-थर काँपती थी। फलतः जितनी शान उन दिनों विरोधी दल के नेता की थी, उतनी शान आज के सचिवों की भी नहीं है। निःसन्देह कहा जा सकता है कि पण्डित मोतीलाल जी पैदायशी राजा थे। समय ने उन्हें ऐसे समय उत्पन्न किया कि उन्हें विरोधी दल के नेता बनना पड़ा।

—

६

देशबंधु चित्तरंजनदास

गाँधी-युग के वक्ताओं में पं० मोतीलाल जी से उतर कर दूसरा स्थान देशबंधु चित्तरंजनदास का था। देशबन्धु को दूसरे स्थान पर रखने का यह अभिप्राय नहीं समझना चाहिए कि वे योग्यता, वक्तृत्व-शक्ति अथवा त्यागभाव में किसी अन्य व्यक्ति

से कम थे। उनका त्याग पं० मोतीलाल जी के समान ही था। कानूनी योग्यता की दृष्टि से वे देश के दो-चार बड़े वकीलों में स्थान रखते थे। अग्नि की मात्राओं में पं० मोतीलाल जी से भी अधिक थे। आयु में कम होते हुए भी आगे बढ़ने में वे किसी पुराने नेता से पीछे नहीं रहते थे। बंगाल के तो वे बेताज बादशाह थे। बङ्गाल में देशबन्धु का उत्थान वस्तुतः बिजली की गति से हुआ। वे उठे और एकदम बङ्गाल के सारे सार्वजनिक जीवन पर छा गये। उन के कार्यक्षेत्र में आने पर बङ्गाल का सिर फिर एक बार ऊँचा हो गया। काँग्रेस के प्रारम्भिक युग में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, उमेशचन्द्र बनर्जी और अम्बिकाचरण मजुमदार आदि देशभक्तों के कारण राजनीति में बङ्गाल भारत भर का नेता बन गया था। बीच में राजनैतिक आन्दोलन का नेतृत्व बम्बई के हाथों में चला गया। काँग्रेस की नीति का निर्माण पूना में होने लगा। उन वर्षों के लिए बङ्गाल का सितारा कुछ मन्द पड़ गया था। देशबन्धु दास के कार्यक्षेत्र में उतरने पर बङ्गाल फिर एक बार राजनैतिक सेना की अगली पंक्ति में आ खड़ा हुआ। यह ठीक था कि सेना की कमान एक गुजराती के हाथ में थी—महात्मा गाँधी काँग्रेस के सर्वेसर्वा हो चुके थे; तो भी देशबन्धु चित्तरंजनदास का स्थान देश के राष्ट्रीय जीवन में स्वतन्त्र रूप से बहुत ऊँचा हो गया था। स्वराज्य-पार्टी की स्थापना ने उन की महात्मा जी से अलग राजनैतिक सत्ता भी कायम कर दी थी। गाँधी युग के वक्ताओं में से देशबन्धु दास को हम अन्य सब वक्ताओं की अपेक्षा पूर्व-युग के वक्ताओं के समीप खड़ा पाते हैं। उन की भाषण-प्रणाली भावुकतापूर्ण थी।

अँग्रेजी पर उन का प्रभुत्व था। कण्ठ-स्वर में ऑरेटरों वाली तार-ध्वनि थी। यदि वे गाँधी-युग में अवतीर्ण न हुए होते और उस से पहिले मैदान में आए होते, तो सम्भवतः वे पुराने युग के वक्ताओं की भाँति सिसरो या ग्लेडस्टन की शैली के वक्ता बन जाते। गाँधी-युग की यह विशेषता थी कि उस में वक्ता के शब्द तथा अनुभाव गौण हो गये थे और भावों की यथार्थता ही मुख्य बन गई थी। देशबन्धु दास ने समय और परिस्थिति के अनुसार अपनी भाषण-शैली को अनायास ही गाँधी-युग के साँचे में ढाल लिया। उन का व्यक्तित्व इतना जोरदार था और उन का त्याग इतना विशाल था कि वक्तृत्व-कला के अलंकारों का त्याग कर देने पर भी वे अपने समय के अत्यन्त प्रभावशाली वक्ता बने रहे। उन के भाषणों में से धीरे-धीरे प्रज्वलित अग्नि का अंश निकलता गया और उस के स्थान पर अन्तर्हित अग्नि प्रवेश करती गई। अन्तिम दिनों में वे बहुत कुछ गाँधी जी की वक्तृत्व-शैली पर ही आ गये थे।

देशबन्धु दास में दो प्रवृत्तियाँ मिली हुई थीं। एक ओर तो वे ऊँचे दर्जे के क्राँतिकारी थे। उन का जिस क्राँति में विश्वास था, वह अपनी सफलता के लिए आवश्यकता पड़ने पर हिंसा और अहिंसा में भेद नहीं करती थी। साथ ही वे वकील होने के कारण वैधानिक मस्तिष्क भी रखते थे। यही कारण था कि जहाँ वे राजनीति में सदा युद्ध की भाषा में बोलते थे, वहाँ स्वराज्य-पार्टी बना कर काँग्रेसियों के धारा-सभा में जाने का श्री गणेश उन्होंने ही किया। महात्मा जी के बहुत से शिष्य अपरिवर्तनवादी थे। श्री राजगोपालाचार्य, सरदार पटेल

और डा० राजेन्द्रप्रसाद जैसे महारथी धारा-सभा प्रवेश को पाप समझते और बताते थे। गया में जो काँग्रेस हुई, उस में प्रस्तावित स्वराज्य-दल और अपरिवर्तनवादियों में बहुत भारी संघर्ष हुआ। स्वराज्य-दल के नेता देशबन्धु दास थे और मन्त्री मोतीलाल नेहरू थे। महात्मा जी का झुकाव (महात्मा जी उस समय जेल में थे) अपरिवर्तनवादियों की ओर समझा जाता था। तो भी कांग्रेस का बहुत अधिक मत स्वराज्य-दल के पक्ष में हो गया। इस का एक मुख्य कारण देशबन्धु दास और पं० मोतीलाल नेहरू के व्यक्तित्व थे। वस्तुतः देशबन्धु दास गाँधी सिद्धान्त के सोलहों आने अनुयायी नहीं थे। मैं समझता हूं कि उन्हें गांधी-सिद्धांत के दस आने अनुयायी कहना ठीक है। शेष छः आने में उन के क्रान्तिवाद को रख लीजिये। उन का गांधीवाद वस्तुतः उन के क्रान्तिवाद और कानूनी मस्तिष्क का एक समझौता था।

एक बार अहमदाबाद में आल इण्डिया काँग्रेस कमेटी का अधिवेशन हुआ। देशबन्धु दास बङ्गाल के प्रान्तीय राजनैतिक सम्मेलन में एक आतंकवादी नवयुवक को बधाई देने के प्रस्ताव का समर्थन कर चुके थे। महात्मा जी उस प्रस्ताव से सन्तुष्ट न थे। आल इण्डिया काँग्रेस कमेटी ने बङ्गाल के प्रान्तिक सम्मेलन के प्रस्ताव के विरोध में एक प्रस्ताव रखा। महात्मा जी ने उस का समर्थन किया। देशबन्धु दास ने उस का विरोध किया। दो इतने महान् व्यक्तियों के बीच में कमेटी के सदस्य डाँवाडोल हो गये। उस अवसर पर दिया गया देशबन्धु दास का भाषण बड़े मार्के का था। उस में गम्भीर विचारों के साथ भावुकता

ओतप्रोत थी। परिणाम यह हुआ कि देशबन्धु दास के संशोधन के पक्ष में अधिक मत आये और महात्मा जी का प्रस्ताव गिर गया। काँग्रेस के नवीन इतिहास में शायद अपने ढङ्ग की यह अकेली घटना थी, जब जोरदार मुकाबला होने पर महात्मा जी का प्रस्ताव सफल न हो सका। वह समय उन लोगों को भूल नहीं सकता, जो वहाँ थे। महात्मा जी की आत्मा को बड़ा क्लेश पहुँचा। क्लेश इस बात पर नहीं था कि हार हुई, परन्तु इस बात पर था कि काँग्रेस के सदस्यों ने अहिसा के सिद्धान्त को पूरी तरह नहीं समझा। जब महात्मा जी अन्त में बोलने लगे, तो उन का गला भर आया और उन की आँखों से आँसू टपक पड़े। उस समय उस सभा-भवन में अद्भुत दृश्य दिखाई दिया। श्रीमती सरोजिनी नायडू ऊँचे स्वर से रो रही थीं, मौलाना मुहम्मदअली और शौकतअली तो लगभग दहाड़ मार कर रो रहे थे और आँखों मे आँसू तो प्रायः सभी सदस्यों के आ गये थे। महात्मा जी की आँखों में आँसू देख कर प्रतीत होने लगा था, मानों हिमालय अपने स्थान से हिल गया हो। उस समय उन सदस्यों को, जिन्होंने महात्मा जी के विरुद्ध राय दी थी, सचमुच खेद होने लगा कि अपनी अन्तरात्मा की आवाज़ पर इतना अधिक ध्यान क्यों दिया। मैंने भी देशबन्धु दास के पक्ष में ही सम्मति दी थी। मैं अपना तो कह सकता हूँ कि यदि मुझे यह मालूम होता कि परिणाम इतना करुणाजनक होगा, तो मैं कोई मत नहीं देता।

मेरी सम्मति है कि सत्याग्रह के प्रारम्भ-काल में जिन महान् व्यक्तियों ने देश का आवाहन सुन कर अपना सर्वस्व

बलिदान कर दिया था, उन में से सब से अधिक अग्नि देशबन्धु दास में थी। वह अग्नि इतनी प्रबल थी कि बाहर के सब रास्ते खुले न रहने के कारण उस ने देशबन्धु दास को ही अपना हव्य बना लिया। उस महापुरुष की शीघ्र मृत्यु का यही मुख्य कारण हुआ। गाँधी-युग के वक्ताओं में से वक्तृत्व-कला की दृष्टि से मैं उन का स्थान सबसे ऊंचा रखता हूँ।

अली-बन्धु

भारतीय राजनीति के अन्तरिक्ष में मौलाना मुहम्मद अली और शौकतअली को धूमकेतु (पुच्छल तारे) से उपमा दी जा सकती है। वे दो धूमकेतुओं की तरह लम्बी-चौड़ी पूँछ लेकर राजनीति के क्षेत्र में अकस्मात् आविर्भूत हुए। जब वे आकाश में दिखाई दिये, तब देखने वालों की दृष्टि अन्य सब नक्षत्रों की अपेक्षा उन की ओर अधिक आकृष्ट हो गई। वे आकाश में छाये हुए दिखाई देते थे। महात्मा गाँधी के दायें और बायें, आगे और पीछे उन्हीं का मुख्य स्थान प्रतीत होता था। महात्मा जी कहते थे कि मैं शौकतअली के झोले में और मुहम्मदअली की जेब में हूं और वे दोनों भाई बड़े अभिमान और संतोष के साथ घोषणा करते थे कि गाँधी जी का कहना ठीक है। यहाँ अली-बन्धुओं के चरित्र के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचना का स्थान नहीं है। केवल इतना कह देना पर्याप्त है कि वे धूमकेतुओं की तरह भारत के अन्तरिक्ष में आए, कुछ समय के लिए चारों ओर छा गये और अन्त में धूमकेतुओं की तरह अपनी नश्वर स्मृति छोड़ कर आकाश में विलीन हो गये।

जब तक वे दोनों भाई काँग्रेस में रहे, तब तक उन्हें महात्मा जी के प्रधान मल्ल समझा जाता था। आयु में बड़े शौकतअली थे, परन्तु गुणों में मुहम्मदअली थे। मौलाना मुहम्मदअली एक प्रतिभा-सम्पन्न लेखक, प्रभावशाली वक्ता और निर्भय नेता थे। उन की योग्यता का सिक्का हरेक को मानना पड़ता था। यह दोनों भाइयों की विशेषता थी कि वे सदा शीघ्र ही फटने वाले ज्वालामुखी के समान रहते थे। कभी-कभी फट भी पड़ते थे। उन दोनों की यह विशेषता भी थी कि उन की आँखों में आँसू और मुँह में कहकहा दोनों ही सदा तैयार रहते थे। कब क्या फूट पड़े इस का कोई ठिकाना नहीं था। दोनों ही परले दर्जे के दबंग थे। वे गाँधी जी के शिष्य कहलाते थे; परन्तु मेरी सम्मति है—और मेरे साथ देश के बहुत से निरीक्षक भी सहमत होंगे—कि सत्य और अहिंसा नाम की चीजों से दोनों कोसों दूर थे।, महात्मा जी का साम्प्रदायिकता के विरुद्ध दृष्टि-कोण भी उन्हें छू तक नहीं गया था। वे दोनों कट्टर मुसलमान थे। महात्मा जी के साथी भी वे इस लिए बने थे कि महात्मा जी ने खिलाफत का समर्थन किया था।

इतनी मनोवैज्ञानिक विवेचना की आवश्यकता इस लिये हुई कि मैं अली-बन्धुओं की व्याख्यान-शैली का विश्लेषण कर सकूं। उन की व्याख्यान-शैली न तो पूर्व-युग के ऑरेटरों की भाँति परिमार्जित और सुसंस्कृत थी और न गाँधी-युग के वक्ताओं की भाँति संयत और युक्तिपूर्ण थी। उन की व्याख्यान-शैली की विशेषताएं थीं—सीमारहित हिमाकत, जोरदार अत्युक्ति, भाषा की कठोरता और मजहबी जोश। उन के भाषणों में इन सब

चीजों का मिश्रण होता था। बोलने और लिखने में निर्भय वे थे ही। न सरकार को माफ करते थे और न अपने से विरुद्ध मत रखने वालों को। गाँधी जी को बनिया कह कर निर्दिष्ट करना तो उन के व्याख्यानों का एक छोटा सा चुटकुला था। शब्दों द्वारा प्रतिपक्षी की हिंसा करने में वे थोड़ा-सा भी नहीं हिचकिचाते थे। इस दृष्टि से मौलाना अबुलकलाम आजाद की वक्तृताएँ कला की दृष्टि से अली-बन्धुओं की अपेक्षा बहुत ऊंची होती हैं। तो भी यह मानना पड़ेगा कि जनता अली-बन्धुओं के व्याख्यानों को सुनना चाहती थी और उन से प्रभावित हो कर 'मुहम्मद अली की जय' के नारे लगाती थी। इस का एक विशेष कारण यह था कि जनता स्वभाव से ही हिमाकत को, दबंगपन को और जोरदार चोटों को पसन्द करती है। अली-बन्धुओं की अपने ढङ्ग की एक व्याख्यान-शैली थी, जिसे कई वर्षों तक देशवासियों ने पसन्द किया। उस में ऊंचे दर्जे की कोई कला नहीं थी, तो भी वैसी कला तो थी ही जैसी एक मदारी के उन करतबों में होती है, जब वह जीवित मनुष्य को काट कर फिर जिन्दा कर देने की घोषणाएँ करता है और ग्राम्य भाषा के लच्छेदार प्रयोग द्वारा उपस्थित जनता को प्रसन्न कर लेता है।

—

७

त्रिमूर्ति

मैं काँग्रेस के जिस युग के वक्ताओं की चर्चा अब कर रहा हूं, वह वक्तृत्व-कला की दृष्टि से चाहे कैसा ही हो,

वक्ताओं की संख्या की दृष्टि से वह बहुत ही समृद्ध था। उस युग में प्रायः सभी लीडर थे और प्रायः सभी नेता थे। ऐसे वक्ताओं से भरपूर युग में से कुछ नमूने के वक्ताओं को चुनना बहुत ही कठिन कार्य है। विषय की सहूलियत के लिये मैंने उसे कुछ श्रेणियों में बांट लिया है। आशा है, इस व्यवस्था से विषय के विवेचन में सुविधा हो जायगी।

पहिले मैं उन तीन वक्ताओं को लेता हूँ, जो एक समय 'अपरिवर्तनवादी त्रिमूर्ति' के नाम से विख्यात थे। उन के प्रख्यात नाम ये हैं—श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य, सरदार वल्लभ भाई पटेल और डा० राजेन्द्रप्रसाद। इन तीनों को त्रिमूर्ति की उपाधि गया की काँग्रेस में मिली थी। यह वह काँग्रेस थी, जिस में स्वराज्य-पार्टी की स्थापना हुई थी। कॉग्रेस के सामने यह प्रश्न उपस्थित था कि काँग्रेसी लोग धारा-सभाओं में प्रवेश करें या नहीं ? पण्डित मोतीलाल नेहरू उस दल के नेता थे, जो कौंसिल-प्रवेश और स्वराज्य-पार्टी की स्थापना के पक्ष में था। महात्मा जी उस अधिवेशन में उपस्थित नहीं थे। उन के नाम पर जो लोग मोतीलाल नेहरू के प्रस्ताव का विरोध कर रहे थे, उन के नेता ये तीन सज्जन थे। आल इण्डिया काँग्रेस कमेटी में और खुले अधिवेशन में प्रस्तुत विषय पर बहुत गरमागरम वादविवाद हुआ। प्रस्ताव के विरुद्ध बोलने वालों में सब से प्रमुख स्थान श्री राजाजी का था। मैंने उन का भाषण पहिली बार वहीं सुना। यद्यपि वे सर्वसाधारण जनता के वक्ता नहीं हैं; तो भी काँग्रेस के उस अधिवेशन में उन की धाक बँध गई थी। वे जब अंग्रेज़ी के सुन्दर और सुथरे वाक्यों में परिवर्तन के विरुद्ध

युक्तियाँ उपस्थित करते थे, तब श्रोताओं के मुँह से अनायास ही साधुवाद निकल पड़ता था। श्रोता वक्ता से सहमत हों या न हों, पर वक्ता की भाषा इतनी सरल और परिमार्जित थी, युक्तियां इतनी सुव्यवस्थित थीं और कहने का ढङ्ग ऐसा शान्त और प्रभावशाली था कि श्रोता को उसकी प्रशंसा करनी ही पड़ती थी। लोग उस समय आपस में प्रायः यह चर्चा करते थे कि अगर राजाजी धारा-सभा-प्रवेश के विरोधी न होते, तो धारा-सभा में सब से अधिक सफलता उन्हीं को मिलती, क्योंकि उन की भाषण-शैली धारा-सभाओं के सर्वथा उपयुक्त थी। उस समय तो राजाजी कौंसिल प्रवेश के विरोधी ही बने रहे, परन्तु वह समय भी आ गया, जब श्रोताओं की आशाएँ पूरी हुई। राजाजी न केवल कौंसिल-प्रवेश के पक्षपाती बने, वे मद्रास के प्रधान मंत्री भी बने और भारत के पहिले गवर्नर-जनरल भी बन गये। वक्तृत्व-कला की दृष्टि से राजाजी की गिनती ऑरेटरों में नहीं हो सकती। उन्हें सभा-भवन के अत्यन्त उत्कृष्ट श्रेणी के वक्ता कहना उचित होगा।

सरदार पटेल का असली रूप उसी अधिवेशन में देश के सामने आया। वे परिवर्तन के कट्टर विरोधी थे। आल इन्डिया कांग्रेस कमेटी, खुले काँग्रेस अधिवेशन और गया में सार्वजनिक जल्सों में सरदार पटेल ने जो भाषण दिये, मैंने वे प्रायः सभी सुने। उन में न भाषा के परिष्कार पर जोर था और न युक्तियों की भरमार थी। सीधे-सादे स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा की गई थी कि इस समय कांग्रेस के कार्य-क्रम में परिवर्तन करना देश-द्रोह है, इस कारण वह नहीं करने दिया जायगा। एक व्याख्यान

में सरदार पटेल ने कहा था, "लोग मुझ से पूछते हैं कि अब काँग्रेस का क्या कार्य-क्रम रहेगा? मैं उन से कह देना चाहता हूं कि इस प्रश्न का उत्तर पीछे दूँगा, पहिले इस परिवर्तन और कौंसिल-प्रवेश के कूड़ा-करकट को झाड़ू से समेट कर बाहर फेंक देना चाहिये। जब तक यह गन्द हमारे सामने रहेगा तब तक हम शान्तचित्त से भावी कार्यक्रम पर विचार नहीं कर सकेंगे।" ये शब्द मैंने केवल अपनी स्मृति से उद्धृत किये हैं। उस समय मुझे इतने ज़ोरदार प्रतीत हुए कि ये मेरे दिल पर अंकित हो गये। उन से सहमत न होते हुए भी मुझे यह समझने में देर न लगी कि परिवर्तनवादियों को असल में जिस चट्टान से टकराना है, वह यही है। सरदार का दृढ़ चेहरा उन की अधखुली आँखें और चढ़ी हुई आस्तीनें प्रकट कर रही थीं कि यह व्यक्ति जो सोचता है और जो कहता है उसे पूरा कर के रहेगा। सरदार के उन वाक्यों से सचमुच स्वराज्य-पार्टी वालों पर आतंक-सा छा गया था। यह तो भाग्य की बात है कि महात्मा गाँधी के मत-परिवर्तन के साथ ही साथ उन के पट्ट-शिष्य सरदार पटेल का भी मत-परिवर्तन हो गया और सेनापति कौंसिल-प्रवेश के विरुद्ध ज़ोरदार युद्ध-घोषणा कर चुका था, वह बाद में पार्लिमेंटरी बोर्ड का प्रधान बनाया गया। उस दिन से आज तक काँग्रेस ने जितने चुनाव लड़े हैं, उन का नियन्त्रण सरदार पटेल ने ही किया है। यह तो हुई इतिहास की बात। केवल वक्तृत्व-कला की दृष्टि से सम्मति बनानी हो तो हम कह सकते हैं कि सरदार पटेल राजाजी से बिल्कुल उल्टे हैं। वे कौंसिल-चेम्बर के वक्ता नहीं हैं। वे जन-साधारण

की भाषा बोलते हैं, न उन्हें ऑरेटरों वाला स्वर मिला है और न वे भाषा के संस्कार की ही परवाह करते हैं। फिर भी जनता उन की बात को ध्यान से सुनती है और विश्वास करती है, क्योंकि उन के प्रत्येक शब्द के पीछे फौलादी इच्छा-शक्ति और क्रिया-शक्ति का बल है।

त्रिमूर्ति के तीसरे वक्ता डा० राजेन्द्र प्रसाद थे। वे गया में स्वागताध्यक्ष थे। उस से पूर्व मैंने राजेन्द्र बाबू का नाम तो सुना था, पर दर्शन नहीं किये थे। देखने का शौक अवश्य था। मैं दो दिन में कैम्प में घूमता-फिरता स्वागताध्यक्ष जी को देखने का प्रयत्न करता रहा, परन्तु कोई व्यक्ति ऐसा दृष्टिगोचर न हुआ जिस की स्वागताध्यक्ष जैसी शक्ल हो। मैंने उस से पूर्व कॉंग्रेस के अनेक अधिवेशनों के स्वागताध्यक्षों को देखा और सुना था। थोड़ा बहुत उन से मिलते-जुलते किसी व्यक्ति की आशा से मैं चारों ओर देखता रहा, परन्तु निराश ही होना पड़ा। इस कारण अब आल इण्डिया कॉंग्रेस कमेटी में सभापति ने बोलने के लिये राजेन्द्र बाबू को बुलाया, तब मेरी उत्सुकता बहुत बढ़ गई। राजेन्द्र बाबू बोलने के लिये खड़े हुए तो पहिले तो मैंने यही समझा कि कोई स्वयंसेवक किसी प्रकार की सूचना देने के लिये खड़ा हो गया है, राजेन्द्र बाबू अभी थोड़ी देर में आयेंगे। परन्तु जब खड़े हुए सज्जन सभापति जी के पास पहुँच कर बोलने लगे तब समझ में आया कि यही राजेन्द्र बाबू हैं। गहरा साँवला रङ्ग, लम्बा छरहरा शरीर, मोटे खद्दर के कपड़े, सिर पर पीछे की ओर झुकी हुई खद्दर की टेढ़ी टोपी और बड़ी घनी मूछें—यह हुलिया गाँव के किसी किसान का था,

लीडर-क्लास के किसी कॉंग्रेसी का नहीं।

राजेन्द्र बाबू हिन्दी के प्रभावशाली वक्ता हैं। उन के भाषण में किसी प्रकार की कृत्रिमता नहीं होती। उन की भाषा परिमार्जित है। वे जो कुछ बोलते हैं, हृदय से बोलते हैं। इसी कारण किसी-किसी समय जब वे भावावेश में आते हैं, तब उन के शब्दों में ऑरेटरों की-सी ऊँची उड़ान भासित होने लगती है। यों सामान्य-रूप से वे भावुक नहीं हैं। उन के भाषणों का जो अद्भुत प्रभाव होता है, उस का कारण कोई कला नहीं है, प्रत्युत राजेन्द्र बाबू का सरल,सच्चा और विशुद्ध व्यक्तित्व है। जो व्यक्ति उन से मिले या उन की बात सुने, वह शीघ्र ही उन पर आस्था करने लगता है। यही कारण है कि बहुत उद्भट वक्ता न होते हुए भी कॉंग्रेस के प्रायः सभी कार्यों में अब तक भी प्रारम्भ का मङ्गल उन्हीं से कराया जाता है।

द्विमूर्ति

त्रिमूर्ति के पश्चात् अब मैं उस समय के भारत के दो ऐसे महापुरुषों की भाषण-शैली के सम्बन्ध में लिखूंगा, जो युवक-हृदय-सम्राट् कहलाते थे। उन्हें हम 'युवक द्विमूर्ति' के नाम से निर्दिष्ट कर सकते हैं। वे दोनों थे पण्डित जवाहरलाल नेहरू और श्री सुभाषचन्द्र बोस।

पं० जवाहरलाल नेहरू आज भारत के ही नहीं, समस्त संसार के एक माने हुए प्रमुख नेता हैं। जब महात्मा गाँधी ने भारत की राजनीति में प्रवेश किया, तब पं० मोतीलाल जी मॉडरेट विचारों के कॉंग्रेसी नेता समझे जाते थे और पं० जवाहरलाल जी एक प्रसिद्ध और सफल बैरिस्टर के होनहार उत्तरा-

धिकारी से अधिक कुछ नहीं थे। उन की शिक्षा विलायत में हुई थी। वे एक ऐसे व्यक्ति के पुत्र थे, जिसे संसार की मान-प्रतिष्ठा और सम्पत्ति सभी कुछ प्राप्त था। हम संक्षेप में कह सकते हैं कि वे राजसी ठाठ में पैदा हुए थे।

महात्मा गाँधी के कॉग्रेस-प्रवेश के कुछ समय पश्चात् ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गई कि पंडित मोतीलाल जी महात्मा जी के साथी बन गये। मॉडरेट से सत्याग्रही बन जाना कुछ आसान काम नहीं था। पहिले तो पंडित मोतीलाल जी के कानूनी विभाग ने कानून-भङ्ग जैसे कानून-विरोधी सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया, परन्तु अन्त में धीरे-धीरे वे सत्याग्रह के पूरे समर्थक बन गये। समझा जाता है कि अपने मॉडरेट पिता को असहयोग-आन्दोलन के दायरे में लाने में पंडित जवाहरलाल जी का बहुत हाथ था। पंडित जवाहरलाल जी की तेजस्वी अधीर प्रकृति उन्हें मॉडरेट कैसे बनने दे सकती थी।

यहां से पण्डित जवाहरलाल जी का राजनैतिक जीवन शुरू हुआ। जन्म से मनुष्य को जो लाभ प्राप्त हो सकता है, वह तो उन्हें प्राप्त था ही, क्योंकि वे एक ऐसे व्यक्ति की संतान थे जिसे मनुष्यों में राजा कह सकते हैं। जब राजनीति में प्रवेश किया, तो महात्मा गाँधी के अनुयायी बन कर। यह जवाहरलाल जी का दूसरा सौभाग्य था। यह पंडित जवाहरलाल जी की कुलीनता और समझदारी का सब से बड़ा सबूत है कि महात्मा जी से कई विषयों पर असहमत होते हुए भी कभी उन का मुकाबला नहीं किया—विरोध करते हुए भी उन का साथ दिया। यह तो स्वाभाविक ही है कि ढलती हुई शक्ति उठती हुई शक्ति के सामने

अपने को झुका देती है। जैसे पंडित मोतीलाल जी ने अपने पुत्र के प्रभाव से अपने आप को बाईं ओर झुका दिया था, वैसे ही महात्मा जी ने भी कई अवसरों पर अपने को केवल पंडित जवाहरलाल जी के लिहाज से बाईं ओर झुकाया। इस की प्रतिक्रिया भी कुछ कम नहीं हुई। महात्मा जी के व्यवहार ने जवाहरलाल जी को भी कई अंशों में दक्षिण पार्श्व की ओर झुकाया। इस सारी क्रिया-प्रतिक्रिया का यह परिणाम है कि आज पंडित जवाहरलाल जी काँग्रेस के नेता भी हैं और भारत के प्रधान मन्त्री भी। जो एक दिन युवक हृदय सम्राट् थे, वे आज भारत के वैधानिक शासन के कर्णधार बने हुए हैं।

यह तो हुई उस चित्र की पृष्ठभूमि जो मैं यहाँ खींचना चाहता हूँ। मेरा प्रस्तुत विषय भाषण कला की दृष्टि से पंडित जवाहरलाल जी की वक्तृत्व-शक्ति का मूल्यांकन करना है। उस की पृष्ठभूमि की चर्चा मैंने इस कारण की है कि मैं यह बता सकूं कि कला की दृष्टि से अनेक न्यूनतायें होते हुए भी पंडित जवाहरलाल जी को इतनी सफलता कैसे मिली ?

यह प्रायः सर्वसम्मत बात है कि पंडित जवाहरलाल जी कला की दृष्टि से बहुत उत्कृष्ट वक्ता नहीं हैं। उन की अंग्रेजी खूब परिमार्जित होती है, परन्तु उस में भी वे कहीं-कहीं अटकते हैं। कभी-कभी तो सन्देह होता है कि तुतला जाते हैं। यह स्पष्ट है कि वे अटक किसी अशक्ति के कारण नहीं होती, प्रत्युत इस लिये होती है कि अपने हार्दिक भाव को प्रकाशित करने के लिए जिस ठीक शब्द को वे तलाश कर रहे होते हैं, वह उन्हें जल्दी ही नहीं मिलता। हिन्दुस्तानी में तो बोलते हुए कभी-कभी वे

पास बैठे हुए लोगों से पूछ भी लेते हैं कि 'हाँ, उसे क्या कहते हैं ? हिन्दुस्तानी में बोलते हुए उन के सामने जो सब से बड़ी कठिनाई आती है, वह यह है कि उन्होंने बचपन में उर्दू नहीं पढ़ी थी, उन्हें हिन्दी पढ़ाई गई थी। वे अब भी जब अंग्रेजी में नहीं लिखते, तो हिन्दी में ही लिखते हैं। अपने हस्ताक्षर भी जब अंग्रेजी में न करें, तो हिन्दी में ही करते हैं। परन्तु न जाने किस तरह उन के मस्तिष्क में यह बात बैठ गई है कि भारतवर्ष के निवासी हिन्दी की अपेक्षा उर्दू को अधिक समझते और पसन्द करते हैं। इसलिये वे उर्दू में ही व्याख्यान देने का यत्न करते हैं—यद्यपि उस का नाम उन्होंने हिन्दुस्तानी रख छोड़ा है। उन के हिन्दुस्तानी भाषणों में जो भाषा और भावों का प्रवाह रुकता-सा दिखाई देता है, उस का कारण यह है कि वे जबरदस्ती अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों के विरुद्ध जाने की चेष्टा करते हैं। हिन्दी पढ़ी है, उसे बोलते नहीं। उर्दू नहीं पढ़ी, उसे बोलने की चेष्टा करते हैं। परिणाम यह होता है कि भाषा की सुन्दरता नहीं आने पाती और प्रवाह बार-बार रुक जाता है।

पंडित जी बहुत दीर्घभाषी हैं—सदा बहुत लम्बा व्याख्यान देते हैं। इस का कारण यह है कि उन के दिमाग में बहुत कुछ है, दिल में भी बहुत-सा भण्डार भरा पड़ा है। जब बोलने खड़े होते हैं, तब अन्दर की सब सामग्री एक दम जिह्वा पर आ खड़ी होती है। इसी कारण पंडित जी प्रायः अपना व्याख्यान इस प्रकार प्रारम्भ करते हैं, 'कहने को बहुत कुछ है, क्या कहूँ, क्या न कहूँ, कुछ समझ में नहीं आता।' इस प्रकार

आरम्भ कर के जो बात पहिले याद आ जाती है, उसे कहना शुरू कर देते हैं और फिर एक के बाद दूसरी बात कहते जाते हैं। पण्डित जी का व्याख्यान प्रायः वैसा होता है, जिसे अंग्रेजी में 'लाउड थिंकिंग' (सस्वर विचार करना) कहते हैं। जो मन में आता जाता है, कहते जाते हैं वे कब रुकते हैं और क्यों रुकते हैं, इस का ठीक-ठीक कारण जानना बहुत कठिन है। कहने योग्य बातों का अभाव तो होता नहीं, तब यही मानना चाहिए कि लगभग सवा घण्टा व्यतीत हो जाने पर उन्हें यह ध्यान आता है कि मुझे दूसरा काम भी करना है और यह ध्यान आने पर वे बोलना बन्द कर देते हैं।

यह तो मैंने वर्त्तमान भारत के सब से अधिक शक्तिशाली व्यक्ति की भाषण शैली की न्यूनताएँ बतलायीं। कहीं इस से पाठक यह न अनुमान लगा लें कि मैं उन्हें कुछ छोटी कोटि के वक्ता समझता हूँ। पण्डित जवाहरलाल जी बहुत उच्च कोटि के वक्ता हैं। उन की वक्तृत्व शक्ति में उत्कृष्टता उत्पन्न करने वाले जो गुण हैं, उन में से कुछ निम्नलिखित हैं—

१. उन का त्याग और तपस्याओं से बना हुआ व्यक्तित्व।

२. उन के विचारों की तेजस्विता।

३. जनता का यह विश्वास कि वे जो कुछ कहते हैं, सच्चे भाव से कहते हैं और उन के अनुसार कार्य करने को भी उद्यत रहते हैं।

४. उनकी तीव्र और व्यापिनी प्रतिभा और अंग्रेजी शिक्षण, जिस ने उन की भाषा में एक सुन्दर नियन्त्रण पैदा कर दिया है।

इन तथा ऐसे ही अन्य कारणों से कला सम्बन्धी कुछ न्यूनताएँ रहते हुए भी पण्डित जी बहुत प्रभावशाली वक्ता हैं। गाँधी-युग में वे युवक दल के वाम-पक्षी नेता समझे जाते थे। पूर्ण स्वाधीन संघ, मजदूर संघ, युवक संघ, जनाधिकार समिति, सोशलिस्ट पार्टी इत्यादि सब जोशीली वामपक्षी संस्थाओं के वे या तो संपादक थे अथवा अध्यक्ष रहे। यह बात भी उन्हें युवक-भारत का लाड़ला और प्रमुख नेता बनाती थी।

अब वे देश के प्रधान मन्त्री हैं। वे आलोचक नहीं रहे, आज वे सब से अधिक उत्तरदाता व्यक्ति हैं। परिस्थिति के इस परिवर्तन ने उन की भाषण शैली में कोई परिवर्तन किया या नहीं, यह बहुत मनोरंजक प्रश्न है। इस के उत्तर में मतभेद हो सकता है। मेरी अपनी सम्मति यह है कि अब वे सर्व-साधारण जनता में हिन्दुस्तानी में जो भाषण करते हैं, वे सत्याग्रह युग के भाषणों की समता नहीं कर सकते। सत्याग्रह युग के भाषणों की सब से बड़ी विशेषता उन की तेजस्विता और तीव्रता थी। स्वभावतः उस का अब अभाव हो गया है। अब प्रायः पण्डित जी को ऐसे भाषण देने पड़ते हैं, जिन में वर्तमान शासन की सफाई पेश की जाय। आक्रमण और सफाई में बड़ा अन्तर होता है। आक्रमण करती हुई सेना को देख कर मुर्दे भी गाने लगते हैं, परन्तु जब कोई व्यक्ति सफाई देने पर आये तो वातावरण में शीतलता आ जाती है। यही कारण है, कि जो वक्ता प्रायः भावुकतापूर्ण आक्रमणात्मक भाषा का प्रयोग करने में सिद्धहस्त होते हैं, वे सफाई पेश करने के समय बहुत ढीले हो जाते हैं।

—

८

श्री सुभाषचन्द्र बोस

उस युग के अग्रगामी दल की द्विमूर्ति में दूसरा नाम श्री सुभाषचन्द्र बोस का है। श्री सुभाषचन्द्र बोस स्वभावसिद्ध नेता थे। वे जिस क्षेत्र में भी रहे नेता बन कर रहे। इस का कारण यह था कि उन में नेतृत्व के कई गुण प्रभूतमात्रा में विद्यमान थे। उन का मुखमंडल भव्य और तेजस्वी था। शरीर विशाल और निरोधित था। हृदय साहस से भरा हुआ था। जो लक्ष्य सामने रख लेते थे, उस में जी जान से लग जाते थे। फिर न कोई प्रलोभन उन्हें लक्ष्य से गिरा सकता था और न भय उन्हें मार्गच्युत कर सकता था। जो लोग उन से असहमत थे, उन्हें भी स्वीकार करना पड़ता है कि उपर्युक्त गुणों के कारण सुभाष-बाबू स्वभाव से ही जनता के नेता थे। मैंने यहाँ नेता जी के बारे में भूतकाल का प्रयोग किया है। बहुत से लोगों का कहना है कि नेता जी जीवित हैं। मै उन की स्थापना को न स्वीकार करता हूँ, न उस से इन्कार करता हूँ। जब मैं यह लिखता हूँ कि वे जनता के स्वभावसिद्ध नेता थे, तब मेरा केवल यह अभि-प्राय है कि जिस युग का वर्णन कर रहा हूँ, उस समय मैं क्या समझता था।

नेतृत्व के लिए जिन गुणों की आवश्यकता है, उन में से एक वक्तृत्व-कला भी है। नेता जी अच्छे प्रभावशाली व्यक्ति थे। मैंने उन के बंगला भाषा के व्याख्यान नहीं सुने, इस कारण मैं यह नहीं कह सकता कि वे बंगला के कैसे वक्ता थे। अंग्रेजी

में मैंने उन के कई व्याख्यान सुने हैं। हिन्दी में भी दो-तीन भाषण सुनने का अवसर मिला है। उन से मेरे मन पर यह प्रभाव पड़ा कि उन्हें अंग्रेजी पर पूरा प्रभुत्व था। उस का प्रयोग वे काफी जोरदार शैली में अनायास कर सकते थे। कला की दृष्टि से वे बंगाली वक्ताओं की अपेक्षा बम्बई प्रॉत के वक्ताओं से अधिक मिलते थे। भाषा, स्वर और शैली में वे सुरेन्द्रनाथ बनर्जी अथवा विपिनचन्द्र पाल की अपेक्षा गोखले अथवा तिलक के अधिक अनुरूप थे। उन के भाषण उत्तेजनात्मक कम होते थे। स्वर में भी अधिक चिल्लाहट नहीं थी। उन के भाषण में दो विशेषताएँ थीं—विचारों में स्पष्टता और शब्दों में दृढ़ता। जनता को उन का जो गुण विशेष रूप से अपनी ओर आकृष्ट करता था, वह उन के विचारों की अग्रगामिता और निर्भयता थी। यदि हम सुभाषबाबू की नेहरू जी से तुलना करें, तो वक्तृत्व-कला की दृष्टि से सुभाषबाबू नेहरू जी की अपेक्षा अधिक ठण्डे व्यक्ति थे। उन के भाषण में विचारों का क्रम भी अधिक सुसंगठित रहता था, परन्तु शब्दों में और अन्य भाव में आग कम दिखाई देती थी। उन की आग तिरोहित थी स्पष्ट नहीं। नेहरू जी में जितनी आग है, उस से कहीं अधिक दिखाई देती है।

उस युग के अन्य वक्ता

वह क्राँति का युग था। क्राँति में वक्ता और नेता पैदा करने की अद्‌भुत शक्ति होती है। गाँधी-युग ने भी भारत को अनगिनत वक्ता और नेता दिये हैं। प्रान्त-प्रान्त में नेता उत्पन्न

हुए। नगरों और ग्रामों में अपने नेता थे, वक्ता भी थे। अपने-अपने क्षेत्र में उन का प्रभाव असाधारण था। मेरा विश्वास है कि उन में से बहुत से वक्ता ऐसे होंगे कि जिन की गिनती प्रभावशाली वक्ताओं में की जा सकती है। कला की दृष्टि से वे अपने पद के अधिकारी हैं। उन में से बहुत से नाम मेरे ध्यान में भी आ रहे हैं—पं० नेकीराम शर्मा, श्री आसफ़अली, श्री सेन गुप्त, श्री पालीवाल। और ऐसे ही अन्य दर्जनों नाम ध्यान में आ रहे हैं। परन्तु यहाँ उन सब के निर्देश का स्थान नहीं है। अंग्रेजी वक्ताओं में से श्री विट्ठलभाई पटेल, आचार्य कृपलानी, डा० पट्टाभि आदि वक्ता अपना विशेष स्थान रखते थे। उन सब को ध्यान में रखते हुए हम उस युग की वक्तृत्व-कला की दृष्टि से, जिस के लिए डिमास्थनीज, सिसरो और बर्क जैसे वक्ता प्रसिद्ध हैं, कॉंग्रेस का आदि युग बहुत समृद्ध था। उस समय के वक्ता भाषण के कार्य को कला का एक अङ्ग समझ कर अभ्यास और अनुकरण द्वारा पुष्ट करते थे और बड़ी तैयारी से जनता को प्रभावित करने की चेष्टा करते थे। गाँधी युग के वक्ताओं में कला और तैयारी बहुत न्यून होती गई, यहाँ तक कि युग के अन्त में वह शून्य हो गई। उस का स्थान अकृत्रिम स्पष्टवादिता और गाँधी-काल की विनीत उग्रता ने ले लिया था। शब्द गौण हो गये थे और अभिप्राय को प्रमुखता मिल गई थी।

मौलाना अबुलकलाम आजाद

कॉंग्रेस के दूसरे युग को समाप्त करने और तीसरे युग को आरम्भ करने से पूर्व मैं एक प्रतिष्ठित वक्ता के सम्बन्ध में

कुछ लिखना आवश्यक समझता हूँ। वे अपने समय के शायद सर्वोत्कृष्ट उर्दू वक्ता हैं। उन का नाम दोनों युगों के बीच में इसलिए ले रहा हूँ कि वे कांग्रेस के वर्तमान युग को अपने से पहिले युग की देन हैं। उन्हें हम किसी एक युग में नहीं रख सकते। दोनों युगों में उन का एक ही स्थान रहा है। वे कांग्रेस में मुसलमानों के सर्व-प्रधान प्रतिनिधि और मुसलमानों में काँग्रेस के प्रमुख भाष्यकार तब भी थे और अब भी हैं। वे मेरी सम्मति में न तब क्रान्तिवादी थे और न अब क्रान्तिवादी हैं। वे तब भी ऊँचे दर्जे के वास्तविकवादी थे और अब भी हैं। जैसी उन की नीति स्थिर रूप से बुद्धिवाद पर आश्रित है, उसी प्रकार उन की भाषण-शैली भी बुद्धिवाद पर आश्रित है। भारत की राजनीति में युग बदल गया है, गति के स्थान पर स्थिति आ गई है; परन्तु मेरी सम्मति में मौलाना की परिस्थिति में कोई भेद नहीं आया। मुझे उन के भाषण सुनते हुए लगभग बीस वर्ष हो गए। बहुत ऊँचे दर्जे के ऑरेटर न होते हुए भी वे अरबी, फारसी, शिक्षित उर्दू बोलने में अपना सानी नहीं रखते हैं। वक्ता की भव्य मूर्ति भी उस के शब्दों को बल प्रदान करती है। इस दृष्टि से प्रकृति ने मौलाना पर बहुत कृपा की है। उर्दू भाषा पर उन का प्रभुत्व है। उन का कहने का ढंग आकर्षक है। हाथ और सिर की अनुकूल चेष्टाओं द्वारा वे श्रोताओं के हृदयों तक अपने अभिप्राय को पहुंचा देने में कोई कमी नहीं छोड़ते हैं। भाषा यद्यपि साधारण भारतीय श्रोता के लिये कठिन होती है, तो भी इतनी कठिन नहीं होती कि शहर के श्रोता उस के अभिप्राय को न समझ सकें। भाषा-विज्ञान के

पण्डितों का कहना है कि मनुष्य जब किसी लेख को पढ़ता है तो वह वस्तुतः उस के सब अक्षरों पर दृष्टि नहीं डालता उस की आँखें ऐसी अभ्यस्त हो जाती हैं कि वह कुछ अक्षरों को पढ़ कर शब्दों का अनुमान लगाता जाता है। यही दशा सुनने की भी है। श्रोता वक्ता के प्रायः सब शब्दों को नहीं सुनता और जिन्हें सुन लेता है, आवश्यक नहीं कि उन्हें पूरी तरह समझ भी ले। कुछ शब्दों को सुनता है, उन में से कुछ का अर्थ पूरी तरह समझ लेता है और अभिप्राय निकाल लेता है। हिन्दू मुसलमानों की मिली हुई उपस्थिति में जब मौलाना अबुल कलाम आजाद व्याख्यान देते हैं तो उन का अभिप्राय ऊपर लिखी हुई पद्धति से ही श्रोताओं को हृदयंगम होता है। उर्दू फारसी के बहुत से शब्द समझ में नहीं आते तो भी अभिप्राय समझ में आ जाता है। आप के व्याख्यानों में श्रोताओं के दिमागों पर असर डालने का यत्न किया जाता है, वे हृदय को बहुत कम छूते हैं। इन सब कमियों के होते हुए भी भारत की राजनीति पर मौलाना के प्रभुत्व का यह रहस्य है कि वे हिन्दुओं की दृष्टि में मुसलमानों के बहुत कुशल वकील और मुसलमानों की दृष्टि में हिन्दुओं के सब से बड़े मित्र हैं। आज भी वे भारत के हिन्दुओं और मुसलमानों के मध्य में मिलाने वाली शृङ्खला की तरह विद्यमान हैं। उन की इस महत्वपूर्ण स्थिति का उन के श्रोताओं पर काफी प्रभाव पड़ता है। उन की बात ध्यान से सुनी जाती है।

१५ अगस्त १६४७ के दिन भारत की राजनीति में जो बड़ा परिवर्तन हुआ, उस का राजनीति के क्षेत्र में कार्य करने

वाले प्रायः सभी व्यक्तियों पर कुछ न कुछ प्रभाव हुआ है। जो उस से पूर्व कोरे आंदोलनकारी समझे जाते थे वे आज शासन के जिम्मेदार अधिकारी बन गये हैं। उन के बोलने के ढंग में भी परिवर्तन आ गया है। तब वे उस समय के शासन पर आक्रमण करते थे, आज वे वर्तमान शासन की सफाई पेश करते हैं। आक्रमण और सफाई में बड़ा भेद है। यही कारण है कि पं० जवाहरलाल जी जैसे वक्ताओं की भाषण शैली में बहुत परिवर्तन आ गया है। इस परिवर्तनशील संसार में यदि कोई नहीं बदले तो मौलाना अबुल कलाम आजाद। उन की टोपी का रंग नहीं बदला, दाढ़ी का कट नहीं बदला, बोलने का ढंग नहीं बदला, और दो-चार हिन्दी शब्दों के आ जाने पर भी भाषा नहीं बदली। इसीलिये मैं कहता हूँ कि मौलाना आजाद वर्तमान युग को गाँधी युग की अछूती देन हैं।

—

६

गणतन्त्र में

किसी समय यह समझा जाता था कि गणतन्त्र राज्य की भूमि वक्तृत्व-कला के विकास के लिए बहुत उपजाऊ है। ग्रीस और रोम के इतिहास, डिमास्थनीज, सिसरो आदि महान् वक्ताओं द्वारा अलंकृत हैं। जब एक वक्ता यह अनुभव करता है कि वह अपनी भाषा के बल से जनता को प्रभावित कर

सकता है तब उस की वाणी में हृदयों को हिलाने की शक्ति भी आ जाती है। यूनान में प्रायः राज्य एक नगर तक परिमित होते थे। वहाँ का भाग्य शहर के सब से बड़े चौराहे पर निर्णीत होता था। वहीं ऊँचे आसन पर खड़े हो कर ऑरेटर अपनी वाणी के झूले पर बिठा कर श्रोताओं को कभी ऊपर ले जाता था तो कभी नीचे गिराता था। इन्हीं भाषणों से डिक्टेटर बनते और बिगड़ते थे। हृदयों को हिला देने वाली वक्तृत्व-कला के विकास का वहाँ अनुकूल समय था।

वक्तृत्व-कला को पुष्टि देने वाला दूसरा अवसर वह होता है जब देशों में राज्य-क्रान्ति प्रारम्भ होती है। क्रान्ति की मनोवृत्ति को उत्पन्न करने में वाणी के जादूगरों का सब से बड़ा भाग रहता है। मैंने पूर्व पृष्ठों में भारत में वक्तृत्व-कला के इतिहास का जो विवेचन किया है, उस में यह स्पष्ट कर चुका हूँ कि हमारी राज्य-क्रान्ति के प्रारम्भिक युग में अनेक ऐसे प्रभावशाली वक्ता उत्पन्न हुए, जिन की वाणी में शब्दों का जादू था। जब क्रान्ति ने भावना के युग से आगे बढ़ कर क्रिया के युग में प्रवेश किया तब धीरे-धीरे केवल शब्दों की शक्ति क्षीण होती गई। उस का स्थान उन सीधे-सादे शब्दों ने ले लिया जिन के गर्भ में क्रिया का बल था। तब वक्तृत्व-कला की परिभाषा बदल गई। अथवा यह कह सकते हैं कि जिसे वक्तृत्व-कला माना जाता है उस का ह्रास होने लगा। शब्द गौण हो गये और क्रिया मुख्य हो गई। १६४७ में अंग्रेज भारत से चले गये और १६५१ में गणतन्त्र की घोषणा हो गई। यदि भारत, यूनान और रोम के पुराने गणतन्त्र राज्यों की तरह एक नगर तक परिमित होता

तो शायद वक्तृत्व-कला की उन्नति पर नवीन युग का बहुत अनुकूल प्रभाव पड़ता। परन्तु परिस्थितियों की भिन्नता ने प्रभाव भी भिन्न ही उत्पन्न किए। उन प्रभावों को समझने के लिए नई परिस्थितियों का थोड़ा सा विवेचन आवश्यक है।

कॉंग्रेस ने देश के लिए स्वराज्य प्राप्त किया था। इस कारण स्वाभाविक ही था कि नए विधान-मण्डलों में और इसी कारण नए मन्त्रिमण्डलों में भी कॉंग्रेस का अत्यन्त अधिक बहुमत हो गया। इतना बहुमत हो गया कि यदि हमारा गणराज्य नया न होता और नया होने के कारण उसे कुछ समय तक निर्विरोध शासन की आवश्यकता न होती तो वह विशाल बहुमत देश के लिए संकट का कारण बन जाता। जनतन्त्र और विशेषतः गणतन्त्र राज्य में सामान्य रूप से यदि प्रबल विरोधी दल न हो तो बहुमत की वैसी ही तानाशाही स्थापित होने का डर रहता है जैसी कभी-कभी एक सत्तात्मक राज्य में पाई जाती है। शासन करने वाले दल के पास अत्यधिक और सुरक्षित बहुमत होने का वक्तृत्व-कला पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। शासक दल के पास उन के समर्थन में उठने वाले इतने अधिक हाथ रहते हैं कि जोरदार भाषणों की आवश्यकता ही नहीं रहती और विरोधी दल के दिल अशक्ति के कारण ऐसे बुझ जाते हैं कि उन की वाणी में ओज नहीं रहता। हमारे देश में भी ऐसा ही हुआ। केन्द्र में और प्रदेश में जिन व्यक्तियों को मन्त्रिमण्डलों के नेता बनाया गया वे आन्दोलन के दिनों में अच्छे वक्ता माने जाते थे। उन में से बहुतों की चर्चा इस से पूर्व आ चुकी है। जब तक वे आन्दोलनकारी थे।

जनता के हृदयों को प्रभावित करके उन में उत्तेजना पैदा करना ही उनका मूलधन था क्योंकि उस के बिना वे जनता पर अपना प्रभाव नहीं रख सकते थे। अधिकार सम्पन्न होने पर दिशा बिल्कुल बदल गई। आन्दोलन के दिनों में वे आक्रान्ता थे, अब उनके कन्धों पर सरकारी कामों के समर्थन का बोझ पड़ गया। परन्तु अब उन्हें समर्थन के लिए शब्दों की इतनी आवश्यकता नहीं थी जितनी विधान सभाओं में वोटों की। और वोट उनकी जेबों में थे। फलतः जोरदार वक्ताओं का स्थान लिखे हुए नपे तुले वक्तव्यों और पार्टी के आदेश पत्रों (ह्विप) ने ले लिया। राज्य के मन्त्रियों के लिखित भाषण प्रायः उनके कार्यालयों में तैयार किए जाते हैं। उनकी भाषा पर और भावों पर दफ्तरी छाप रहती है। फलतः यह आवश्यक हो जाता है कि वे संक्षिप्त हों और भावुकता से हीन हों।

यह तो हुई लिखित वक्तव्यों की बात। इस में सभी मन्त्री समान हैं। भारतीय संघ के प्रधान मन्त्री पं० नेहरू जी से लेकर दिल्ली जैसे छोटे से 'ग' राज्य के मन्त्री का भाषण एक ही नपैने से नपा होता है। वह दफ्तरी दृष्टिकोण का प्रतिबिम्ब होता है, इस कारण उस में वक्तृत्व-कला नाम की वस्तु को तलाश करना सर्वथा व्यर्थ है। बाकी रही मन्त्रियों के अधिलिखित भाषणों की बात। मैं स्पष्टवादिता के लिए नम्रता-पूर्वक क्षमा माँगता हुआ यह सम्मति प्रगट करने का दुःसाहस करता हूँ कि आज पंडित जवाहरलाल जी के अतिरिक्त अन्य किसी मन्त्री के शब्दों में जनता के हृदयों पर प्रभाव डालने की शक्ति नहीं। स्वराज्य मिलने पर दो "शब्द" शक्तिशाली थे। पहला पं० नेहरू

जी का और दूसरा सरदार का। सरदार का शब्द शान्त हो गया। अब केवल जवाहरलाल जी का शब्द है जो भारतीय जनता के हृदयों में कोई प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है। शेष मन्त्रियों के शब्द माइक्रोफोन द्वारा विस्तारित होते हैं। परन्तु निश्चल हृदयों से टकराकर माइक्रोफोन में ही वापिस हो जाते हैं। उन का मनोवैज्ञानिक मूल्य 'हिज मास्टर्स वॉयस' से अधिक नहीं रहा।

इस परिस्थिति के उत्पन्न होने के कारणों का विवेचन मैं इस से पहले कर चुका हूँ। नेहरू जी इसमें अपवाद हैं। इस के अनेक कारण हैं। सब से पहला कारण तो यह है कि नेहरू जी के व्यक्तित्व की ऊंचाई स्वराज्य मिलने से पूर्व ही अन्य नेताओं तथा कार्यकर्त्ताओं से बहुत अधिक हो गई थी। वे अपने समय के योग्यतम पार्लियामेन्ट्री नेता सर्वत्यागी पं० मोतीलाल नेहरू के सुपुत्र हैं। देश को स्वाधीनता दिलाने वाले राष्ट्रपिता महात्मा गान्धी के पट्टशिष्य हैं। और स्वयं स्वाधीनता युद्ध में किए हुए असाधारण बलिदानों के कारण जनता के दुलारे बन चुके हैं। जब स्वाधीनता रूपी लक्ष्य की घोषणा होने के पश्चात् २६ जनवरी १९३० के सायंकाल देश के नगर-नगर और गाँव-गाँव में स्वाधीनता की प्रतिज्ञा दोहराई गई थी, तब कई स्थानों पर उन में उर्दू के एक शायर का एक गीत गाया गया था, जिसका आरम्भ का पद था—

"आबरन पर हिन्द की हम सब फिदा हो जायेंगे।"

गीत के अन्तिम पद ये थे।

"इक नये अन्दाज से किश्ती चलेगी मुल्क की

और जवाहरलाल नेहरू नाखुदा हो जायेंगे।'

शायर के वे शब्द भविष्यवाणी बन गये। १६४७ में मुल्क की किश्ती नये अन्दाज से चलने लगी और मुल्क की खुश-किस्मती से जवाहरलाल नेहरू उस के नाखुदा बन गये। यह बात निःशंक भाव से कही जा सकती है कि नेहरू जी ने भारत की किश्ती के नाखुदा—नाविक—बन कर असाधारण सफलता प्राप्त की है। नौका के सामने पटारें भी थीं और भँवर भी। उस के आगे तूफ़ान भी आये और चट्टानें भी। उन सब में से जवाहरलाल जी ने जिस कुशलता से स्वराज्य की नौका को निकाला है उस के कारण प्रत्येक भारतवासी उन्हें प्रेम करता है। यही कारण है कि न तो लिखित वक्तव्यों की शुष्कता उन के शब्दों की शक्ति को कम कर सकी और न भाषणों में कला का अभाव उन के जादू को मिटा सका। यों केवल कला की दृष्टि से देखें तो नेहरू जी की वक्तृतायें आज भी वैसी ही अपूर्ण हैं जैसी पहले थीं। यदि कोरा आलोचक बन कर उन पर टिप्पणी करें तो हम कह सकते हैं कि वह आवश्यकता से बहुत लम्बी होती हैं, उन में विषयों का क्रम टूटता रहता है, भाषा में—विशेषतः हिन्दी में कई बार एक शब्द और दूसरे शब्द के बीच में खाई सी पड़ जाती है। यदि नेहरू जी साधारण व्यक्ति होते तो उन के भाषणों पर इन छोटी-छोटी त्रुटियों का प्रभाव पड़ सकता था, परन्तु अब तो उन के सम्बन्ध में कालिदास की यह उक्ति चरितार्थ होती है—

'एको हि दोषो गुण सन्निपाते
निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः'।

वक्तृत्व-कला की औपचारिक त्रुटि रूपी कलंक नेहरू जी के महान् व्यक्तित्व की किरणों में सर्वथा लुप्त हो गया है। यह देश का सौभाग्य है कि नेहरू जी का यश दिनों दिन वृद्धि पर है। नेहरू जी का यश देश का यश है।

अब हम देश के अन्य वक्ताओं की ओर दृष्टिपात करते हैं। देश में अच्छे वक्ताओं की संख्या सम्भवतः हजारों तक पहुँचती है। उन में से कोई सज्जन भी बुरा न माने यदि उन का नाम इस लेख में न आये। इस लेख का उद्देश्य वक्ताओं का परिगणन करना नहीं अपितु सामान्य रूप में वक्तृत्व कला के विकास तथा ह्रास पर दृष्टिपात करना है। इस के लिए स्थाली पुलाक न्याय से ही काम लिया जा सकता है। हम राष्ट्र के कुछ प्रमुख वक्ताओं के सम्बन्ध में विवेचनात्मक शब्द लिख कर ही संतोष करेंगे।

वर्तमान समय के प्रख्यात वक्ताओं में से हम सब से पहला स्थान डॉ० सर्वेपल्ली राधाकृष्णन् को देते हैं। मैं उन्हें भारतवर्ष में सब से श्रेष्ठ वक्ता तो मानता ही हूँ, मुझे प्रतीत होता है कि संसार के पाँच-सात उच्चकोटि के वक्ताओं में आप का नाम रखा जाय तो अनुचित न होगा। आप सदा अंग्रेजी में ही भाषण देते हैं। यह परिस्थितियों का परिणाम है। १९५५ के अप्रैल मास में डॉ० राधाकृष्णन् ने गुरुकुल काँगड़ी में दीक्षांत भाषण दिया था। उस समय मेरे सामने एक बड़ी भारी समस्या आ गई। आप के भाषण की पूरी रिपोर्ट लेने के लिए कोई रिपोर्टर तैयार ही नहीं होता था। उन का कहना था कि डॉ० साहब के वेग के साथ हमारी लेखनी नहीं

चल सकती। उन के शब्दों के पीछे शब्द और वाक्यों के पीछे वाक्य इतनी तेजी से आते हैं कि बरसात में बढ़ा हुआ गंगा का प्रवाह शिथिल मालूम पड़ने लगता है। शॉर्ट-हैण्ड के तीन रिपोर्टर बिठाये गये तब लगभग पूरी रिपोर्ट तैयार हो सकी। श्रोताओं में पञ्जाब के कुछ वकील और प्रोफेसर भी बैठे हुए थे जिन्होंने उस से पूर्व कभी डॉ० राधाकृष्णन का भाषण नहीं सुना था। भाषण सुनने के बाद वे मुक्तकण्ठ से कहने लगे कि हम ने इस से पहले अंग्रेजी का ऐसा परिष्कृत और प्रभावशाली भाषण नहीं सुना। डॉ० राधाकृष्णन् की यह विशेषता है कि वे न कभी लिख कर बोलते हैं और न कभी हाथ में कागजों का पुलिन्दा ले कर खड़े होते हैं। बस बोलते चले जाते हैं। हर एक वाक्य मानों टकसाल से घड़ा हुआ निकलता है और उस के समाप्त होते ही दूसरा टकसाली वाक्य आरम्भ हो जाता है। विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि विचारों का स्तर सदा ऊँचा रहता है। न कहानियाँ होती हैं और न चुटकुले। अंग्रेजी के सुन्दर और सुघड़ शब्दों में दार्शनिक विचारों का प्रवाह बहता चला जाता है जिसका विराम प्रायः संस्कृत के किसी श्लोक पर होता है। रूस के प्रधान मन्त्री और उन के साथियों के भारत आने पर, संसद् के केन्द्रीय भवन में, संसद् के सब सदस्यों की एक सभा हुई थी। उस के सभापति डॉ० राधाकृष्णन थे। अन्य सब भाषण लिखित थे, केवल आप का ही भाषण अलिखित था। परन्तु इस विषय में श्रोताओं की सर्व-सम्मति थी कि सब से अच्छा और प्रभावशाली भाषण आप का ही था। भाषण की समाप्ति निम्न-

लिखित श्लोक के साथ हुई थी—

"सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु"।

आप का शायद ही कोई भाषण ऐसा होता हो जिस में संस्कृत के श्लोकों का उद्धरण न हो। एक यह भी कारण है कि अंग्रेजी के शॉर्ट-हैण्ड-रिपोर्टर तक आप के भाषण की पूरी रिपोर्ट लेने में असमर्थ हो जाते हैं। मेरी सम्मति में डॉ० राधाकृष्णन् 'ऑरेटर' न होते हुए भी भारत के सर्वोत्कृष्ट अंग्रेजी वक्ता हैं।

इस स्वाधीनता युग के दूसरे महान् वक्ता अपनी ऐहिक जीवन-लीला समाप्त कर के भारतमाता की गोद को सूना कर चुके हैं। मेरा अभिप्रायः डॉ० श्यामाप्रसाद मुकर्जी से है। वे बहुत ऊंचे दर्जे के "ऑरेटर" थे। उन की कुछ चर्चा पिछले परिच्छेदों में आ चुकी है। गणतन्त्र की घोषणा के पश्चात् वे अधिक दिनों तक जीवित नहीं रह सके। जितने थोड़े दिनों तक जीवित रहे उतने दिनों तक उन्होंने संसद् में विरोधी दल के नेता का स्तर इतना ऊंचा उठा दिया था कि अब वहाँ तक पहुंचना बहुत कठिन प्रतीत होता है। जब संसद् की गोल चार दीवारी में यह समाचार प्रसिद्ध हो जाता था कि डॉ० मुकर्जी बोल रहे हैं तो राज्यसभा और लोकसभा के सब सदस्य जो इधर-उधर घूम रहे या गप-शप कर रहे होते थे भाग-भाग कर लोकसभा के भवन में आ बैठते थे। कभी-कभी तो राज्यसभा की कुर्सियों पर पन्द्रह, बीस ऐसे व्यक्ति ही बैठे रह जाते थे, जो या तो कर्तव्य से बँधे होते थे अथवा बोलने के उम्मीदवार होते थे। यह देखा गया था कि प्रधान मन्त्री नेहरू जो लोक

सभा भवन में बहुत कम दिखाई देते हैं। डॉ० मुकर्जी के बोलने के समय प्रायः अपने आसन पर विराजमान होते थे। डॉ० मुकर्जी बोलते ही उस समय थे जब नेहरू जी विद्यमान हों अथवा उन के खड़े होने की खबर पाकर पं० जी आ जाते थे यह निश्चय से नहीं कहा जा सकता। परन्तु होता प्रायः यही था कि बोलते समय डॉ० मुकर्जी की आँखें नेहरू जी की ओर ही लगी रहती थीं। जिस समय डॉ० मुकर्जी सरकार की आलोचना में शब्दों के शर फेंकने लगते थे तब प्रायः काँग्रेसी सदस्यों के दिल भी दहल जाते थे। मुकर्जी की आँखों में जितना तेज था शब्दों में भी उतना ही था। जब कभी जनता में यह प्रश्न उठता था कि यदि कभी नेहरू जी ने प्रधान मन्त्री पद छोड़ा तो उन का स्थान कौन लेगा, तब एक यही उत्तर मिलता था 'डॉ० श्यामा-प्रसाद मुकर्जी'।

संसद् के दोनों भवनों में और बाहर की राजनीति में भी बोलने वालों की कमी नहीं। बोलने वालों की अधिकता के कारण कभी-कभी संसदों की अवधि बढ़ानी पड़ती है। फिर भी सब का सन्तोष नहीं होता। कुछ न कुछ भाषणाभिलाषी यह शिकायत करते ही रहते हैं कि उन्हें बोलने का अवसर नहीं मिला। बाहर जाकर चाय भी नहीं पी और बोलना भी न मिला। परन्तु अपने सहयोगियों से विनय-पूर्वक क्षमा माँग कर यह कहने की अनुमति चाहता हूँ कि अब किसी वक्ता के वचनों में श्रोताओं को प्रभावित करने की शक्ति नहीं रही।

ऐसी परिस्थिति क्यों हो गई? इस के कई कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि (शिष्टाचार की मात्रा का प्रयोग

करें तो हम कह सकते हैं) सब सदस्य किसी न किसी पार्टी के बन्धनों में बँध गये हैं, जिस वस्तु-स्थिति का जनता की भाषा में यह कह कर वर्णन किया जा सकता है कि सब चिकने घड़े हो गये हैं। पार्टी के अनुशासन ने उन के कोने छोड़ दिये हैं। जब कोई काँग्रेसी वक्ता बोलने लगता है तब अधिकतर काँग्रेसी सदस्य तो इस कारण उठ जाते हैं कि उन्हें पहिले से ही मालूम होता है कि क्या कहा जायेगा। और विरोधी पार्टियों के सदस्य इस कारण बैठने की आवश्यकता नहीं समझते कि उन की राय में काँग्रेसी सदस्यों के कथन में कोई सार ही नहीं। वे काँग्रेसी सदस्यों को नेहरू जी का 'हिज़मास्टर्स वायस' समझते हैं। दूसरी ओर विरोधी दल वालों के साथ भी यही सलूक होता है। उन के और विशेष रूप से साम्यवादी भाइयों के शब्दों में जोश तो बहुत होता है परन्तु उस जोश का आक्रमण या तो बेचारे अकेले बैठे हुए मन्त्री को सहना पड़ता है, या उन खाली कुर्सियों को जो लाबी या चाय घर में बैठे हुए काँग्रेसी सदस्यों का स्मरण कराती हैं। इस प्रकार पार्टियों के नियन्त्रण ने विचारों की स्वाधीनता और भाषण की स्फूर्ति को समाप्त प्रायः कर दिया है।

एक और प्रकार का भी प्रतिबन्ध है जो वक्तृत्व-कला का शत्रु सिद्ध हुआ है। वह है समय का प्रतिबन्ध। कार्य-क्रम बनाने वाली कमेटी प्रत्येक विधेयक के सम्बन्ध में बहस पर समय की सीमा बाँध देती है। जिस का परिणाम यह होता है कि सभापति महोदय छात्रों की वाक्-प्रतियोगिता की तरह सदस्यों के भाषणों पर दस और कभी-कभी पाँच मिनट की

सीमा लगा देते हैं। जैसे रेलगाड़ी को स्टेशन से चल कर पूरा जोर पकड़ने के लिए कुछ समय चाहिये वैसे ही वक्ता को भी असली रूप में आने के लिए कुछ दूर तक चलना आवश्यक होता है। समय न होने से वक्ता का जोश गर्भ में ही समाप्त हो जाता है। दलों का अनुशासन और समय पर प्रतिबन्ध, इन दो कारणों से केन्द्रीय संसद् और प्रदेशों की विधान-सभाओं के सदस्यों की वक्तृत्व शक्तियों पर जंग लग गया है।

बाकी रही धारा-सभा के बाहर वक्ताओं की दशा। वह भी अच्छी नहीं। वक्तृत्व शक्ति को जो थोड़ा बहुत चमत्कार बाकी है वह या तो साम्प्रदायिक सभाओं तक परिमित है अथवा साम्यवादियों के प्रदर्शनों में प्रकट होता है। उस का विशेष कारण यह है कि जहाँ दूसरे का खण्डन ही खण्डन है, और अपनी कोई उत्तरदायिता न हो वहाँ जोरदार शब्दों का प्रयोग बेखटके किया जा सकता है, परन्तु उसे हम कला का नाम नहीं दे सकते।

राजनीतिक सभाओं की दशा अब यह हो गई है कि पं० नेहरू जी का नाम हो तो लाखों आदमी इकट्ठे हो जायेंगे परन्तु केवल किसी अन्य नेता को सुनने के लिए पाँचसौ या हजार आदमियों से अधिक की उपस्थिति की आशा नहीं रखी जा सकती। फलतः यात्रियों तक को अपनी बात सुनाने के लिए या तो रेडियो अथवा समाचार पत्रों में वक्तव्य प्रकाशित करने पड़ते हैं या सामाजिक अथवा सांस्कृतिक आयोजनों का सहारा लेना पड़ता है।

वक्तृत्व-कला का यह ह्रास अच्छा है या बुरा इस विषय

पर मैं कुछ नहीं लिखूँगा। क्योंकि ऐसे मामलों में अच्छा और बुरा शब्द सापेक्षक होते हैं। पुराने यूनान और रोम में गण तन्त्र राज्यों को वक्तृत्व-कला की उपजाऊ भूमि समझा जाता था। कारण यह था कि उस समय शासन को बनाने और बिगाड़ने की शक्ति प्रजा के हाथ में रहती थी और कानूनों, पद्धतियों तथा संविधानों के जाल ने सार्वजनिक जीवन को चारों ओर से नहीं जकड़ा था। इस के विपरीत आजकल का गणतन्त्र दल-पद्धति (पार्टी सिस्टम) और कानूनी शिकञ्जों में ऐसा कस गया है कि उस में वक्तृत्व-कला के विकास का अधिक अवसर नहीं रहा। केवल वक्तृत्व-कला ही क्यों, डर तो यह है कि कहीं हमारा यह कृत्रिम जीवन सब प्रकार की कलाओं के विकास को न रोक दे। आज भारत में क्या दशा हो रही है। वही कवि आदर पा सकेगा जिस पर केन्द्र अथवा प्रदेश का शिक्षा-विभाग अनुग्रह का हाथ रख दे। संगीत की उसी प्रणाली को बढ़ावा मिलेगा जिसे या तो रेडियो के अधिकारी पसन्द करें अथवा संगीत अकादमी आशीर्वाद दे दे। वही कवि, उस्ताद अथवा गवैय्ये आदर पा सकेंगे जिन्हें सरकारी सनद प्राप्त हो चुकी हो। स्वभावतः राज्य के इन समाज कल्याणकारियों का परिणाम यह होगा कि ललित कलाओं की नैसर्गिक स्वच्छन्द उन्नति में बाधा पड़ जायेगी। हर एक गाड़ी को सरकार की बनाई हुई पटरी पर चलना पड़ेगा।

क्या स्वतन्त्र भारत में वक्तृत्व-कला तथा वैसी ही अन्य कलाओं का भविष्य अन्धकारमय है? मैं इस प्रश्न का उत्तर निषेधात्मक ही दूँगा। देश की वर्तमान परिस्थिति ऐसी है जैसे

बरसाती बाढ़ के निकल जाने पर नदी की अथवा तूफान के पीछे वातावरण की होती है।

देश संघर्ष कर के थका हुआ है, उसे रचनात्मक कार्य-क्रम की आवश्यकता भी है। यही कारण है कि राजनीतिक दल इतना निर्बल है। सन् ५७ की मारकाट के पीछे जब देश में शान्ति स्थापित हुई और महारानी विक्टोरिया ने समान व्यवहार की घोषणा की तब कुछ वर्षों के लिए भारतवर्ष सर्वथा राज्यभक्त बन गया था। राजनीति, धर्म और समाज इन सभी क्षेत्रों में महारानी विक्टोरिया और ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति राजभक्ति की भावना ओतप्रोत हो गई थी। झंझावात के पीछे निःस्तब्धता का होना अनिवार्य है। इस समय भारत की राजनीति की जो परिस्थिति है उस का आधार प्रकृति का उपर्युक्त नियम ही है। सदियों की दासता और दो शताब्दियों के संघर्ष के पश्चात् भारत को स्वाधीनता के वायुमण्डल में साँस लेने का अवसर मिला है। और यह अवसर मिला है काँग्रेस के प्रयत्नों से। देश के राजनीतिक वातावरण में जो निस्तब्धता है और काँग्रेस के प्रति जो भक्ति है, वह सम्भवतः नौ दस वर्षों तक तो रहेगी ही। उस के पश्चात् प्रतिक्रियायें प्रारम्भ हो जायेंगी। उन प्रतिक्रियाओं से राजनीति में विरोधी दलों को बल मिलेगा। विरोधी दलों के बलवान् होने से निस्तब्धता का भंग हो जायेगा। उस समय वक्तृत्व-कला को फिर से जागृत होने का अवसर मिल सकता है। आज तो यह दशा है कि काँग्रेसी वक्ताओं को धारा-सभाओं के अन्दर और बाहर अपने वोटों का इतना भरोसा है कि उन्हें जनता को कोई बात समझाने के लिए शब्दों

का अधिक व्यय करने की आवश्यकता ही नहीं मालूम होती। और विरोधी दल के वक्ताओं को अपने वोटों की निर्बलता का ऐसा यथार्थ ज्ञान है कि उन के शब्दों में ओज नहीं आने पाता। वह स्वयं अपने दावों के खोखलेपन को अनुभव करते हैं। ऐसे पतझड़ के मौसम में बेचारी वक्तृत्व-कला कैसे पनप सकती है?

परन्तु 'नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण'।

जब सभी के दिन फिरते हैं तब भारत की राजनीति में वक्तृत्व-कला को निराश क्यों होना चाहिए?

श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति

द्वारा

लिखित पुस्तकें

ईशोपनिषद्भाष्य	२)
सम्राट् रघु	१।)
जीवन की झाँकियाँ ३ भाग	॥), ॥), १)
जवाहरलाल नेहरू	१।)
ऋषि दयानन्द का जीवन-चरित्र	२)
दिल्ली के वे स्मरणीय २० दिन	॥)
जीवन संग्राम	१)
आत्म बलिदान	२)
स्वतन्त्र भारत की रूप रेखा	१॥)
जमीदार	२)
सरला की भाभी, १, २, भाग	२), ३॥)
मुगलसाम्राज्य का क्षय	
भारत में अंग्रेजों का उदय और अस्त	

ग्रन्थकर्ता की अन्य पुस्तकें

स्वाध्याय :

ईशोपनिषद्भाष्य	२)
जीवन-संग्राम	१)

ऐतिहासिक :

मुगल साम्राज्य का क्षय और उस के कारण, ४ भाग	५)
भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का उदय और अस्त, प्रथम भाग (उदय)	७)
भारत में वक्तृत्व-कला की प्रगति	१।)

जीवन चरित्र :

महर्षि दयानन्द	३)
प० जवाहरलाल नेहरू	१।)
हमारे तपस्वी राष्ट्रपति	।।)
सम्राट् रघु	१।)

जीवन की झांकियाँ :

दिल्ली के वे स्मरणीय २० दिन	।।)
मैं चिकित्सा के चक्रव्यूह से कैसे निकला ?	।।)
जेल के अनुभव	१)